मान मंदिर बरसाना

• मासिक पत्रिका • वर्ष ०९ • अंक १२ • श्रीकृष्ण सं. ५२५१, 'मार्गशीर्ष-पौष' वि.सं. २०८२

ब्रजरज रसिक परम विरक्त संत
पद्मश्री परम पूज्य
श्रीबाबामहाराज के
प्राकट्योत्सव की बधाई
(पौष, कृष्ण, सप्तमी)
(११ दिसम्बर २०२५)

मूल्य १०/-

अनुक्रमणिका

विषय- सूची		पृष्ठ- संख्या
१	श्रीभक्ति-सार 'संत-शरणागति'	०५
२	वास्तविक जीवन-पोषिका 'गौमाता'	०८
३	दिव्यतम प्रेमरसाधार 'श्रीराधाराधन'	०९
४	आत्मस्वरूप प्रदायिनी 'श्रीगीताजी'	११
५	पतन का प्रवेश द्वार 'विषय-चिन्तन'	१२
६	निर्मलता की पहिचान 'निर्द्वंद्वता'	१५
७	श्रीसखियों की चतुरता	१७
८	गुण-कला विदग्धा 'श्रीचन्द्रकलाजी'	२०
९	मान की प्रेरणा	२२
१०	श्रीजानकीजी का मान व मिलन	२५
११	श्रीगह्वरवन का स्वरूप-वर्णन	२९
१२	श्रीभावभक्ति की कथा	३३

|| राधे किशोरी दया करो ||

हमसे दीन न कोई जग में,
बान दया की तनक ढरो ।
सदा ढरी दीनन पै श्यामा,
यह विश्वास जो मनहि खरो ।
विषम विषयविष ज्वालमाल में,
विविध ताप तापनि जु जरो ।
दीनन हित अवतरी जगत में,
दीनपालिनी हिय विचरो ।
दास तुम्हारो आस और की,
हरो विमुख गति को झगरो ।
कबहुँ तो करुणा करोगी श्यामा,
यही आस ते द्वार पर्‌यो ।

INSTAAL करें --- PLAY STORE से-----

MAANINI APP

बाबाश्री के सत्संग/कीर्तन/भजन, साहित्य, आदि यहाँ से FREE - DOWNLOAD कर सकते हैं व सुन सकते हैं ।

श्रीमानमंदिर की वेबसाइट www.maanmandir.org के द्वारा आप प्रातःकालीन सत्संग का ८:०० से ९:०० बजे तक तथा संध्याकालीन संगीतमयी आराधना का सायं ६:०० से ८:०० बजे तक प्रतिदिन लाइव प्रसारण देख सकते हैं ।

संरक्षक- **श्रीराधामानबिहारीलाल ,**
प्रकाशक – **राधाकान्त शास्त्री, मानमंदिर ,गह्वरवन, बरसाना, मथुरा** (उ.प्र.)
mob. **राधाकांत शास्त्री** 9927338666,
Website :www.maanmandir.org ,
(E-mail :info@maanmandir.org)

परम पूज्यश्री रमेश बाबा महाराज जी द्वारा सम्पूर्ण भारत को आह्वान –
"मजदूर से राष्ट्रपति और झोंपड़ी से महल तक रहने वाला प्रत्येक भारतवासी विश्वकल्याण के लिए गौ-सेवा-यज्ञ में भाग ले ।"
*** योजना ***
अपनी आय से १ रुपया प्रति व्यक्ति प्रतिदिन निकालें व मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक अथवा वार्षिक रूप से इकट्ठा किया हुआ सेवाद्रव्य किसी विश्वसनीय गौसेवा प्रकल्प को दान कर गौरक्षा कार्य में सहभागी बन अनन्त पुण्य का लाभ लें । हिन्दूशास्त्रों में अंशमात्र गौसेवा की भी बड़ी महिमा का वर्णन किया गया है ।

विशेष:- इस पत्रिका को स्वयं पढ़ने के बाद अधिकाधिक लोगों को पढ़ावें, जिससे आप पुण्यभाक् बनें और भगवद्-कृपा के पात्र बनें । हमारे शास्त्रों में भी कहा गया है – **सर्वे वेदाश्च यज्ञाश्च तपो दानानि चानघ । जीवाभयप्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि ।।**(श्रीमद्भागवत ३/७/४१)
अर्थ:- भगवत्तत्त्वके उपदेश द्वारा जीव को जन्म-मृत्यु से छुड़ाकर उसे अभय कर देने में जो पुण्य होता है; समस्त वेदों के अध्ययन, यज्ञ, तपस्या और दानादि से होनेवाला पुण्य उस पुण्य के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकता ।

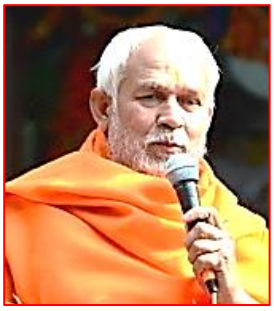

प्रकाशकीय

ब्रजगोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा कि जो तुमने हमें स्त्रीधर्म का उपदेश दिया कि हम जाकर पतियों की सेवा करें, ये परमधर्म है, परन्तु जो हम कह रही हैं, वह इस परम धर्म के भी आगे की बात है । उस परम धर्म से भी आगे है – 'प्रेमधर्म' । इसीलिए प्रेमधर्म के आगे आकर सब बात कट जाती है । सब धर्म, लोकधर्म, वेदधर्म सब कट जाते हैं । गोपियों से ही सीखकर श्रीकृष्ण ने गीता (१८/६६) में अर्जुन से कहा था –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (श्रीगीताजी १८/६६)

शरणागति का धर्म सब धर्मों से ऊँचा है, फिर धर्म को छोड़ देना; इस बात को समझना कठिन है क्योंकि पहले तो धर्म क्या है ? इसको समझना कठिन है, फिर धर्म को छोड़ देना, जो धर्म इतनी बड़ी चीज है; उसको छोड़ देना, ये और भी कठिन बात है । किसलिए छोड़ा जाता है धर्म ? प्रेम के लिए; प्रेम ही एक ऐसा है कि जो सब धर्मों से ऊँचा है । प्रेम अपने को मिटाने के लिए किया जाता है । नदी समुद्र के पास पहुँचकर अपने को मिटा देती है । 'पतंगा' यदि चाहे तो अपनी रक्षा अग्नि से कर सकता है परन्तु पतंगा जल जाता है, पतंगा अपने आपको मिटा देता है । प्रेम की एक ऐसी स्थिति होती है कि जहाँ अपना शरीर और अपना मन भी अपने हाथ में नहीं रहता । आदिपुराण में अर्जुन ने पूछा कि महाराज ! आपके अनन्त भक्त हुए हैं और होंगे, उनमें सबसे श्रेष्ठ आप किसको समझते है ? ये बड़ा गहरा प्रश्न था कि अनन्त भक्त हैं और भक्तों में छोटा-बड़ा समझना बड़ा कठिन होता है लेकिन भगवान् ने वहाँ निर्णय कर दिया और कहा –

"निजांगमपि या गोप्यो ..... निगूढ़ प्रेमभाजनम् ॥"

जो गोपियाँ देखने में तो संसारियों की तरह अपने शरीर को सजाती-सँवारती थीं परन्तु वे अपने शरीर को अपना नहीं अपितु भगवान् का मानती थीं । संसारी स्त्रियाँ शरीर को इसलिए सजातीं हैं ताकि दूसरे लोग देखें और उनकी ओर खिंचें लेकिन गोपियाँ शरीर को श्रीकृष्ण का मानती थीं, इसी से उनकी शरणागति भगवान् में बढ़ गई । ये गोपीप्रेम बड़ा विचित्र व विशेष प्रेम है, जो हमें शिक्षा देता है कि प्रेम क्या है ? प्रेम किसे कहते हैं ? प्रेम का स्वरूप क्या है ? प्रेम कैसे किया जाता है ? ये शिक्षा है साधकों के लिए, सिद्धों के लिए, योगियों के लिए, सब के लिए । महाप्रभु चैतन्यदेव ने प्रेम और काम में अन्तर बताया है – **"कामेर प्रेमेर बहुत अन्तर । काम-अंधतम, प्रेम निर्मल भास्कर ॥**

निजसुख वांछा हेतु काम तो प्रबल । कृष्ण सुख वांछा हेतु प्रेम तो प्रबल ॥"

काम और प्रेम बाहर से एक जैसे लगते हैं परन्तु एक पीतल का खिलौना है और एक सोने का, दोनों पीले-पीले हैं । काम में अपना आनन्द, अपना स्वार्थ रहता है; प्रेम में बिल्कुल उल्टा होता है, अपने प्रेमास्पद को सुख मिले, केवल यही भावना रहती है । 'प्रेम' त्याग की नींव पर खड़ा होता है और 'काम' अपने स्वार्थ की नींव पर खड़ा होता है । लोग बाहरी क्रिया, बाहरी बातें देखकर बोलते हैं कि वह महात्मा है, वह बहुत ऊँचा है पर उसके भीतर क्या है ये नहीं सोच सकते । जैसे ही अहंता व ममता हटती है, वैसे ही जीव प्रभु रूप हो जाता है । श्रीकृष्ण ने कहा कि इसीलिए अर्जुन ! गोपियों से बढ़कर कोई भी मेरे गूढ़ प्रेम का पात्र नहीं है । गोपियाँ जितना शरीर का धर्म करती थीं, वे इस भाव से करती थीं कि ये शरीर श्रीकृष्ण का है । इसी भाव के कारण उनकी उपासना सबसे गहरी होती थी । 'ब्रजदेवियाँ' शरीर को अपना न समझकर श्यामसुन्दर का मानती थीं, इसलिए वे 'श्रीकृष्ण-प्रेम की ध्वजा' स्वरूप में प्रख्यात हुई हैं ।

कार्यकारी अध्यक्ष

राधाकान्त शास्त्री

श्रीमानमन्दिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

श्रीभक्ति-सार 'संत-शरणागति'

भावाभिव्यक्ति –
अध्यक्ष – डॉ. श्रीरामजीलालजी शास्त्री,
श्रीमानमंदिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

संत भगवान् को बहुत प्रिय होते हैं क्योंकि संतजन करुणा के समुद्र होते हैं । संत कृपा नहीं करते अपितु संत का तो स्वभाव ही सहज कृपा करना है । संत ऐसे कृपा करते हैं जैसे अग्नि बिना चाहे ही प्रकाश और गर्मी स्वतः प्रदान करती है । ऐसे क्षमाशील व परोपकारी संतों के हृदय में भगवान् विराजते हैं । ऐसे संत जब सत्संग या वार्ता करते हैं तो उनके मुख से जो वाणी निकलती है, वह उनके हृदय में विराजमान प्रभु के चरण-कमलों का स्पर्श करके आती है, वह वाणी सुनने वाले को भक्त बना देती है । 'राम सिंधु घन सज्जन धीरा ॥' बादल समुद्र से जल को लेकर सबके कल्याण के लिए वर्षा करते हैं । समुद्र स्वयं नहीं आता, सभी के पास उसका जल बादलों के द्वारा ही पहुँचता है । बादल सबको जीवन-दान देता है । बादल सबसे बड़ा परोपकारी संत है । इसी तरह भगवान् स्वयं समुद्र हैं और संत बादल हैं । यदि संत नहीं हों तो संसार को भगवत्तत्व का लाभ नहीं मिल सकता । जैसे समुद्र की उपयोगिता बादलों पर निर्भर करती है, वैसे ही भगवान् की संतों पर । जन्म तो उसी का सफल है जो स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों का परोपकार करता है । संतों का तन, मन, बुद्धि, वाणी सब कुछ दूसरों के लिए होती है । जैसे – वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, अपने फल दूसरों को दे देते हैं और स्वयं आँधी, पानी, शीत, सहकर भी आश्रितों की रक्षा करते हैं । वृक्ष जीते जी तो परोपकार करते ही हैं परन्तु मरने के बाद भी परोपकार करते हैं । उनका अंग-अंग परहित के काम आता है । इसी तरह नदियों व मेघों का पानी सब दूसरों के लिए होता है । संत वही है जिसके पास अपने लिए कुछ भी न हो, सब दूसरों के लिए हो । यही संतों की परिभाषा है । दो चीजें होती हैं - नेत्र और प्रकाश; यदि हमारे पास नेत्र हैं और प्रकाश नहीं है तो नेत्रों का कोई फायदा नहीं और यदि प्रकाश है पर नेत्र नहीं हैं तो प्रकाश का भी कोई फायदा नहीं । दोनों का लाभ परस्पर निर्भर है । संतो से हमें ये दोनों ही चीजें मिल जाती हैं इसीलिए संत भगवान् को बहुत प्रिय होते हैं । तीर्थ तो केवल शरीर के पाप ही धो सकते हैं परन्तु ऐसे संत मन के पापों को भी धो देते हैं । संत तो चलते-फिरते तीर्थ हैं । भगवान् ने स्वयं कहा है – "देवाः क्षेत्राणि.....तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥"(श्रीभागवतजी १०/८६/५२) देव-दर्शन, तीर्थ-दर्शन आदि से तभी लाभ होगा जब आप सत्संग करेंगे । सत्संग से चिपके रहोगे तो तुम्हारे सब पाप, अशुभ, कष्ट, भोग आदि सब नष्ट हो जायेंगे । जैसे - पेड़ की जड़ें दिखाई नहीं देतीं पर वे आस-पास का सब पानी खींच लेती हैं । उसी तरह विषय मन में घुसकर सब कुछ लूट लेते हैं और जीव को पता भी नहीं चलता । मन तो विषयों को छोड़ना ही नहीं चाहता, फिर मन अंतर्मुख कैसे हो ? तो भगवान् ने कहा कि मन इस तरह से अंतर्मुख हो सकता है, जैसे कोई जीव दलदल में फँस गया है वह जितना हाथ-पाँव मारेगा उतना ही दलदल में और घुसता चला जायेगा । वैसे ही जितना साधन करोगे उतना ही दलदल में और घुसते ही जाओगे लेकिन अगर एक तीसरा आदमी एक रस्सी उस दलदल में फँसे जीव को फेंक दे तो वह दलदल से बाहर निकल सकता है । जो तीसरा तत्त्व है वह है भगवान्; जो रस्सी है वो हैं संत । भगवान् कृपा करके संत रूपी रस्सी को जीव के पास अगर भेज दें तो उसका निश्चित कल्याण हो जाता है । जिनके पास बैठते ही भगवान् का यश सुनने को मिले, समझ लीजिये वे संत हैं । संत की तो वायु का स्पर्श भी यदि किसी जड़-चेतन को हो जाय तो वे भी भगवद्गति पा जाते हैं । उनके प्रभाव से सब कृष्णमय हो जाता है । ऐसे संत के पास रहने से, बिना कुछ किये ही सहज भक्ति आ जाती है । वास्तव में यदि कोई महापुरुष मिल जाय तो उनकी सन्निधि में चाहे कोई भी साधन किया जाय, वही श्रेष्ठ है । संत के संग से ही धाम, नाम व सेवा का लाभ मिलेगा । इसलिए

स्वतंत्र मत रहो, धाम में भी संतों के आश्रय में ही रहो । संतों के संग से श्रद्धा बढ़ती रहेगी और श्रद्धा ही सब पापों का नाश करती है । महापुरुषों के सानिध्य में किया गया धाम-वास, नाम-सेवन व इष्ट-सेवा अनन्त पुण्यदायी हो जायेगी । ऐसे लोगों का संग नहीं करना चाहिए जो स्वयं कामनाओं के भूखे हों । एक सिद्धान्त है – 'तीर्णास्तारयन्ति' अर्थात् जो खुद तर गया है वही दूसरों को तार सकता है । जो स्वयं डूब रहा है, वह हमें क्या बचायेगा? वह तो हमें भी डुबो देगा । ऐसे लोगों का संग न करके सच्चे महापुरुष के साथ ही रहना चाहिए जिनका चित्त प्रभु में लगा हुआ है । जिन महापुरुषों का चित्त भगवान् में लगा हुआ है, वे ही हमें प्रभु से मिला सकते हैं क्योंकि उनके श्रीअंगों से ऐसी किरणें निकलती रहती हैं जो हमारी समस्त आसक्तियों को छुड़ा देती हैं । जिस वृत्ति से श्री-हरि प्रसन्न होते हैं, वह है सेवा-भाव । सेवा एक ऐसी चीज है कि मानव-जीवन की सार्थकता भगवद्-सेवा और भक्त-सेवा में ही निहित है । कबीरदास जी कहते हैं –

कबिरा यह तन जात है, सके तो ठौर लगाय । कै सेवा कर साधु की, कै हरि के गुण गाय ॥

ये सब बातें केवल हमारे ग्रंथों में मात्र कही ही नहीं गयी हैं, प्रत्युत भगवान् ने स्वयं लोकादर्श के लिए सब करके दिखाया है । भक्तमालजी में परम संत श्रीमाधवदासजी की कथा आती है – एक बार इनको संग्रहणी रोग हो गया, संग्रहणी में बार-बार मल त्याग होता है । संग्रहणी से इनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था तो ये समुद्र के किनारे जाकर लेट गये क्योंकि इनके शरीर में इतनी भी शक्ति नहीं रही कि मल को धो लें । अर्द्धरात्रि का समय था, भगवान् एक छोटे-से बालक का रूप बनाकर आये और श्रीमाधवदासजी का मल धोने लगे । माधवदासजी ने कहा – "भाई ! तुम कौन हो ?" प्रभु बोले – "बाबा ! मैं यहीं पास के गाँव का हूँ । मैंने देखा, आपकी सेवा में कोई नहीं है तो चला आया ।" माधवदासजी समझ गये कि आधी रात को कहाँ से लड़का आयेगा और वह भी समुद्र के पास; वैसे भी रात्रि के समय जगन्नाथजी में तो समुद्र की बड़ी भीषण गर्जना होती है । यह सोचकर उन्होंने हाथ पकड़ लिया, बोले – "प्रभो ! क्यों झूठ बोलते हो ? मैं सब जानता हूँ कि आप कौन हैं । पर प्रभो ! आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया ? और फिर आपने इतना निकृष्ट मल धोने का काम क्यों किया ? आप वहीं से बैठे-बैठे मेरी बीमारी को दूर कर देते ।" प्रभु बोले – "माधवदासजी ! यदि मैं आपकी बीमारी वहीं से बैठा-बैठा दूर कर देता तो मुझे आपकी सेवा का अवसर कैसे मिलता ?" स्वयं भगवान् ने सेवा करके यह दिखाया कि सेवा केवल एक साधन ही नहीं है अपितु वह एक मानसी पाप व तापों को धोने वाली गंगा है । भागीरथी गंगा तो केवल शारीरिक पाप नष्ट कर सकती है किन्तु सेवा-गंगा शारीरिक-पापों के अलावा मानसी-पापों का भी शमन कर देती है । श्रीशुकदेवजीमहाराज ने कहा है – **तैस्तान्यघानि पूयन्ते.....तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥** (श्रीभागवतजी ६/२/१७) तप, दान, जप आदि से पाप तो नष्ट हो जायेंगे किन्तु पापों ने जो हृदय को मलिन कर दिया है वह जप, दान, तप आदि के द्वारा भी शुद्ध नहीं हो सकता है, वह केवल भगवद्-भागवत चरणों की सेवा से ही शुद्ध होगा । लेकिन सेवा में सात बातें ग्राह्य और सात त्याज्य बताई गयीं हैं, इनमें से जो सात चीजें ग्राह्य हैं, उनमें सबसे पहली चीज है – 'विश्वास' – यदि विश्वास नहीं है तो सेवा की नींव समाप्त हो गयी । २. अन्तःकरण की पवित्रता – सेवा के लिए दूसरी आवश्यक वस्तु है 'आत्मशौच', कामना रहित अन्तःकरण ही शुद्ध है । ३. गौरव – छोटी से छोटी सेवा भी गौरव से की जाए । सेवा को छोटी समझकर हिचकना नहीं चाहिए बल्कि गौरव का अनुभव करना चाहिए । ४. संयम – इन्द्रियों का दमन । ५. शुश्रूषा – सदा सेवा की इच्छा बनी रहे । ६. सौहार्द – प्रेमपूर्वक सेवा की जाए । ७. मधुर-भाषण । सात चीजें त्याज्य हैं – १. काम – सेवा में स्वार्थ सम्बन्धी कोई भी कामना नहीं होनी चाहिए । २. दम्भ – दिखावा नहीं होना चाहिए । ३. द्वेष – द्वेष नहीं होना चाहिए । ४. लोभ – किसी प्रलोभ से सेवा नहीं करना चाहिए । भरतजी ने इस बात को कहा है – **"जो सेवकु साहिबहि सँकोची । निज हित चहइ तासु मति पोची ॥**

सेवक हित साहिब सेवकाई । करै सकल सुख लोभ बिहाई ॥" (श्रीरामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड – २६८)

अर्थात् जो सेवक स्वामी को संकोच में डालकर अपना भला चाहता है, वह नीच बुद्धि वाला है । सच्चा सेवक वही है जो अपने सब सुख और लोभ को छोड़कर स्वामी की सेवा करे । इसलिए सेवा में लोभ भी बहुत बड़ा दोष है । ५. मद – सेवा

करने के बाद मन में अहंकार नहीं होना चाहिए । ६. अघ – पाप । ७. प्रमाद – सेवा में मनुष्य को कभी भी आलस नहीं करना चाहिए । भक्त को जितना लाभ 'सेवा' से होता है, उतना अन्य किसी साधन से नहीं होता । अन्य साधन तो 'अहं भाव' को जाग्रत कर देते हैं और 'सेवा' से अहंकार नष्ट हो जाता है । बिना सेवा किये न अभिमान नष्ट होगा और न हृदय शुद्ध होगा । प्रायः लोग स्वामी बनना चाहते हैं, सेवक नहीं बनते हैं । इसलिए भगवान् की विशेष कृपा जिस पर होती है, वही सेवा कर पाता है । सेवा-भाव की उत्पत्ति श्रीराधारानी की कृपा का हेतु है । सेवा-भाव के बिना श्रीजी का प्रेम कभी नहीं मिलेगा । विशुद्ध संतजनों की सच्ची श्रद्धा के साथ सेवा करने से सहज ही सुदुर्लभ भक्तिरस की प्राप्ति हो जाती है । यहाँ तक कि न श्रुतियों में मतैक्य है, न स्मृतियों में ही । मुनियों के मत में भी ऐक्य कहाँ ? धर्म का तत्व तो गुहा में ही छिपा हुआ है । तब कैसे ढूँढें ? कहाँ जायें ? क्या करें ? व्यथित होने की आवश्यकता नहीं, ये महापुरुषजन जिस मार्ग का सृजन करते हुए गये हैं, 'न स्खलेन्न पतेदिह' – आरूढ़ हो जाओ उस भक्तिमार्ग पर, जहाँ न स्खलन का भय है, न पतन का ही, फिर हम जैसे भ्रान्त-परिश्रान्त पथिकों के लिए दिव्य महापुरुषों का देदीप्यमान जीवन-चरित्र ही तो निर्भ्रान्त पथ-प्रदर्शक है – **तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना, नासावृषिर्यस्यमतं न भिन्नम् ।**

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां, महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥ (महाभारत, वनपर्व ३/१३/११७)

बस आवश्यकता है सच्चे संत-महापुरुषों की सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनके बताए हुए भक्तिमार्ग पर चलने की । धन्य तो है इस वसुन्धरा का पवित्र अंचल जो सदा से सन्त-परम्परा से विभूषित होता रहा है । महाकवि भवभूति ने कहा है – **'उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा । कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ॥'** 'इस विस्तृत भूतल के असीम-अवधि में कोई एक तो अवश्य मेरी भावनाओं को समझने वाला मेरे जैसा उत्पन्न होगा ।' ऐसी आस्था व आशा के साथ संत-महापुरुषजन निरन्तर अपने स्वधर्म-साधन (भक्तिधर्म) के पालन-पोषण में लगे रहते हैं; सनातन संस्कृति की ऐसी परम पावन परम्परा में, संसार प्रवास की स्वल्पावधि में विपुल लोकोपकार करने वाले परम पूज्य श्रीबाबामहाराज का अवतरण भी विशुद्ध भक्ति की संस्थापना के लिए ही हुआ है । भक्तिमती श्रीहेमेश्वरी देवी व श्रीबलदेवप्रसाद शुक्लजी (बाबाश्री के माता-पिता) ने अपनी दीर्घकालीन शिवाराधना के फलस्वरूप तीर्थराज प्रयाग में सन् १९३८ की 'पौष, कृष्ण, सप्तमी' तिथि को मध्याह्नकाल के अभिजित मुहूर्त में एक नवजात दिव्य शिशु (श्रीबाबा) को जन्म देकर बहुत बड़ा लोकहित-कार्य किया है । इस बार बाबाश्री का जन्मदिन '११ दिसम्बर २०२५' को है । श्रीबाबामहाराज की छत्रछाया ने हम कलियुगी प्राणियों को कलिकाल की भयंकर कुठार के भीषण प्रहार से बचाकर ब्रजेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी के धाम में वास दिलाकर उनकी अनवरत प्रवाहित होने वाली कृपाधारा से स्नान करने का देवदुर्लभ अवसर प्रदान कर दिया है, ऐसी स्थिति में हम लोग तो सदा ही श्रीबाबामहाराज की इस अनन्त करुणा के ऋणी ही बने रहेंगे, जन्म-जन्मान्तर तक सेवा करने पर भी कभी इस ऋण को चुका नहीं पायेंगे । हम लोग तो यही कर सकते हैं जैसा कि श्रीमद्भागवत में कपिल भगवान् ने अपनी माता देवहूति को उपदेश देते समय गर्भवास करते हुए जीव की दशा का वर्णन करते हुए कहा है कि जीव को जब सातवें महीने में भगवान् की कृपा से बोध होता है तो वह भगवान् की स्तुति करते हुए कहता है कि आपने माता के गर्भ में मुझे जो दिव्य चेतना दी है, इस अपने किये हुए उपकार से ही आप प्रसन्न हों, क्योंकि आपको हाथ जोड़ने के सिवा आपके इस उपकार का बदला तो कोई दे भी क्या सकता है – **'को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्'** – (श्रीभागवतजी ३/३१/१८) । इसी प्रकार श्रीबाबा महाराज ने भवसागर में डूबते हुए हम दीन-हीन प्राणियों को वहाँ से उबारकर श्रीजी के परम रसमय धाम में रखकर जो अनन्त उपकार किया है, उसके बदले में हम लोग केवल उनको नमन-वन्दन ही कर सकते हैं । श्रीबाबा तो ब्रज के सूर्यवत् हैं, सूर्य की महिमा का कथन अवर्णनीय है; वह तो स्वयं उदय होते ही समस्त अंधकार को दूरकर संसार को प्रकाश देता है । जिस प्रकार सूर्य का उपासक दीपक से उसकी आरती करे, उसी प्रकार श्रीबाबामहाराज की असीम महिमा का व्याख्यान करना भी सूर्य को दीपक दिखाने के बराबर अत्यन्त ही न्यून है । फिर भी उनके परम दिव्य प्राकट्य दिवस के उपलक्ष्य में बाबाश्री के भक्तों की प्रसन्नता के लिए कुछ संक्षिप्त भावनाएँ व्यक्त की हैं ।

वास्तविक जीवन-पोषिका 'गौमाता'

भावाभिव्यक्ति – परम गौ-सेवी
संत 'श्रीब्रजशरणजीमहाराज'
श्रीमाताजी गौशाला, श्रीमानमन्दिर सेवा संस्थान ट्रस्ट

विशुद्ध भाव से हमें गौसेवा करनी चाहिए, इसके निमित्त प्राप्त धन का दुरुपयोग हमें नारकीयता में ले जायेगा । गाय जब अपने दूध से अपना स्वार्थ नहीं रखती तो हम गौसेवा के धन से अपनी स्वार्थ की पूर्ति करें, यह उचित नहीं । "गावो विश्वस्य मातरः" गाय किसी व्यक्ति विशेष की नहीं, सम्पूर्ण विश्व की माँ है । अतः सम्पूर्ण राष्ट्र का परम धर्म है – गौवंश के वध का निवारण व गौवंश की सेवा । कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के २/२६ में गौरक्षा पर राजा को पूर्ण रूपेण ध्यान देने का निर्देश किया है । अशोक के शिला लेखों में गौहत्या पर पूर्ण प्रतिबन्ध द्रष्टव्य है । भारत में पूर्णतः गौवध बन्द कराने का बड़े-बड़े संत-महात्मा भी प्रयास करते आ रहे हैं किन्तु यह देश व गौ-हत्यारों का दुर्भाग्य है कि अपने वास्तविक लाभ को न देख पाने के कारण विनाश की ओर बढ़ रहे हैं, जो गौरक्षक के नाम पर गौभक्षक बन रहे हैं । ऐसी स्थति में पवित्राचार, श्री, ऐश्वर्य एवं शान्ति-स्थापन देश में कदापि सम्भव नहीं है । जब तक भारत में गाय का आदर था, दूध-दही की नदियाँ बहती थीं, देश में शान्ति थी, देवता भी यहाँ जन्म लेने को लालायित रहते थे । स्वर्ग की सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशी तो केवल गाय का घृत पान करने के लिए पुरुरवा के साथ भारत में बहुत दिनों तक रही । राजा मरुत के यज्ञ में देवगण स्वयं परिवेषण कार्य करते थे, विश्वेदेव सदा सभासद बनकर रहते । गोवंश का सेवक गोविन्द का सर्वाधिक प्रिय बन जाता है, यह तो निश्चित है ही । १० वीं शताब्दी तक भारतवर्ष गोवंश के लिए स्वर्ग की भाँति था । वर्तमान में भारत देश गुलामी की जंजीरों से स्वतन्त्र तो हो गया किन्तु गोवध बन्द न हुआ । जब भारतीय ही गौ का वध करेंगे तो इस पर रोकथाम लगाने के लिए विदेश के लोग नहीं आयेंगे । गौवंश की सेवा से भारत सोने की चिड़िया था एवं पुनः पूर्ववत् हो सकता है क्योंकि गौमाता की कृपा से भारत जैसी सोना उगलने वाली भूमि अन्यत्र नहीं है । गाय के रहने से व उसके गोबर-मूत्र इत्यादि से भूमि सर्वाधिक उपजाऊ हो जाती है तथा वातावरण सात्त्विक हो जाता है । वास्तविक रूप से शारीरिक व आध्यात्मिक पोषण गौमाता की कृपा से ही होता है । वेदों में गाय को सारे संसार की माता कहा गया । ऐसा क्यों कहा गया ? क्योंकि हर व्यक्ति की माँ अलग-अलग होती है, सभी की जन्मदात्री सभी योनियों में अलग-अलग होती है और वह अपने दूध से अपने शिशु का पोषण करती हैं । जन्मदात्री को 'जननी' कहा गया, वह जननी 'जन्मदात्री' होते हुए भी केवल थोड़े दिन ही अपने दूध से शिशु का पोषण करती है, कुछ दिन बाद उसका दूध सूख जाता है और प्राणीमात्र के पोषण के लिए गौमाता का आश्रय करना पड़ता है, जिसका दूध कभी नहीं सूखता है । मनुष्य का जीवन की अंतिम श्वास तक गौमाता के दूध से पोषण होता है । गौमाता संसार के सभी प्राणियों का पोषण करती है । अपनी माता बच्चे से सेवा का भी स्वार्थ रखती है जबकि गौमाता निःस्वार्थ भाव से दूध दान करती है । ऐसी संसार की जननी 'गौमाता' को मारना अपनी सैकड़ों जननियों से ज्यादा घृणित है, मातृभक्ति की दृष्टि से ही नहीं कृतज्ञता की दृष्टि से भी गौ-हत्या करना महापाप है । अपनी माँ (जन्मदात्री) का मल-मूत्र कभी पूज्य नहीं हो सकता और वह मल रोग कारक और विषाक्त होता है । उसमें घातक रोगाणुओं की भरमार रहती है किन्तु गौमाता का 'गोबर' मल नहीं वरन् श्रेष्ठ है, निर्दूषज है, रोगनाशक है । किसी को खुजली हुई हो तो उसके उपचार हेतु गोबर में गोमूत्र मिलाकर लेप करके धूप में बैठ जाओ, सभी खुजली रोग के बैक्टीरिया नष्ट हो जायेंगे । अनुपान के साथ सेवन किया जाए तो विश्व के सभी रोगों पर गोबर-गोमूत्र से उपचार हो सकता है । गोबर से बनी खाद से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति इतनी बढ़ जाती है कि प्राचीन भारत को सोने की चिड़िया इसीलिए कहा जाता था । वास्तव में भारत माता का असली धन, वैभव व गौरव परमाराध्या-सेव्या 'गौमाता' ही है ।

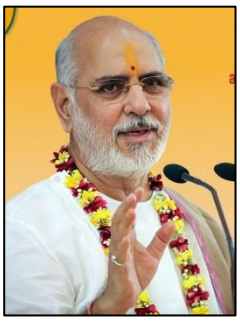

दिव्यतम प्रेमरसाधार 'श्रीराधाराधन'

श्रीमाताजी गौशाला में अन्तर्राष्ट्रीय श्रीभागवत-व्यास 'श्रीरमेशभाई ओझाजी' द्वारा कथित श्रीभागवत सप्ताह कथा के संक्षिप्त भावोद्गार – "अविरल बहने वाली श्रीकृष्ण-प्रेम की धारा का नाम ही 'राधा' है । 'धारा' शब्द को भी जब आप अविरल बोलते हो तो उसमें से 'राधा' नाम ही प्रकट होता है । 'धारा-धारा-धारा' कहो तो 'राधा-राधा-राधा' ही प्रकट होता है । श्रीकृष्ण की आराध्या वही 'राधा' हैं । वास्तव में बिना 'श्रीराधाजी' के आराधना सम्भव ही नहीं है । आप पूजा करते हैं तो उसके लिए भी श्रद्धा चाहिए । श्रद्धा रहित पूजन, श्रद्धा रहित यजन निष्प्राण होता है । इसी प्रकार प्रेम रहित सेवा को सेवा कह भी नहीं सकते हैं । वेतन के लिए जो कार्य किया जाता है, वह तो व्यवसाय होता है । जहाँ प्रेमपूर्वक सेवा होती है, वहाँ केवल-केवल अपने सेव्य के ही सुख का चिन्तन-मनन होता है, केवल सेव्य के ही सुख की चिन्ता रहती है । सेवा से सेवक यदि स्वयं सुख लेना शुरू कर दे तो वह भी भोग बन जाता है । 'सेवा' भी सुख लेने के लिए नहीं अपितु सुख देने के लिए है । बस इतना ही फर्क है – आराध्य और आराधक के बीच में एक सुख की रस्सी है, उस सुख की रस्सी को यदि अपने आराध्य की ओर छोड़ते चलो तो वह 'सेवा' है और यदि सुख की रस्सी को अपनी ओर खींचते चलो तो वह सेवा नहीं है । गोपीगीत में गोपियों ने जब अपने प्राणधन को दर्शन देने के लिए आग्रह किया तो 'दयित दृश्यताम्' कहा । यदि किसी से कुछ लेना है, कुछ पाना है तो तदनुसार उसके गुणों का स्तवन करना चाहिए कि आप तो बड़े दानी हैं, बड़े उदार हैं, आपके दर से कोई खाली हाथ नहीं जाता है । आपने सबकी झोली भरी है, हमारी झोली भी भरेंगे आदि-आदि किन्तु गोपियों ने अपने गीत में श्रीकृष्ण से कहा कि आप निष्ठुर हैं, 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते' – हमारे प्राण आपमें ही हैं । हम आपका ही चिन्तन करती हैं । आप दयालु हो, हमें दर्शन दो । तुम हो तो सही, ये हमें पता है और वास्तव में तुम ही हो, तुमसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है लेकिन पता नहीं क्या हुआ, हमसे कुछ दोष हुआ जो तुम्हारा दिखना बन्द हो गया, अतः कृपा करो और दिख जाओ । जीव उन्हीं की कृपा से उनको देख सकता है यदि वे हेतुरहित कृपापूर्वक हमें दृष्टि दें और उनके दर्शन में बाधक बीच में जो आवरण है, उस आवरण को हटा दें । हे श्यामसुन्दर ! आप दिख जाओ, नहीं तो हम मर जायेंगी, इसका कारण यह है – 'त्वयि धृतासवः' – हमारे प्राण तुममें ही हैं । जब तुम ही न दिखोगे तो हमारे प्राण नहीं रह पायेंगे ।

कभी-कभी क्या होता है कि मनुष्य दूसरे पर भावुक रूप से दबाव डालने के लिए कहता है कि यदि मेरी बात नहीं मानी तो मैं आत्महत्या कर लूँगा । मेरी माँगें पूरी नहीं हुईं तो मैं अपने प्राण दे दूँगा । अब उसका यह प्राण देने की बात कहना क्या है, स्वार्थ भाव से दबाव डालना है; परन्तु गोपियाँ तो भगवान् श्रीकृष्ण से कहती हैं कि चूँकि हमारे प्राण तुममें ही लगे हुए हैं, आप ही हमारे प्राणों के आधार हो और यदि आप ही नहीं दिखोगे तो हमारे शरीर समाप्त हो जायेंगे जैसे बिना प्राणों के शरीर नहीं टिकता । इससे क्या पता चलता है, क्या गोपियों की अपने शरीर में आसक्ति है जो वे अपने शरीर को बनाये रखना चाहती हैं; तो गोपियाँ कहती हैं – नहीं, श्यामसुन्दर ! यह शरीर तुम्हारी सेवा के लिए है ।

परम पूज्य 'श्रीबाबामहाराज' के शब्दों में –

आज भागवत कथा के समापन के दिन श्रीरमेशभाई ओझाजी 'संकीर्तन-आराधना' में आये हैं । जो लोग किसी कारणवश इनकी कथा में नहीं जा सके, उनको यहीं रसमण्डप भवन में इनके दर्शन का सौभाग्य मिल गया है । ओझाजी भारत के एक प्रमुख भागवत वक्ता हैं, आज ये संकीर्तन में पधारे, इसलिए कीर्तन को बीच में ही रोककर मुझे इनके सम्मान के लिए कुछ बोलना आवश्यक है । राधासुधानिधि में कहा गया है –

दूरे सृष्ट्यादिवार्त्ता न कलयति मनाङ्नारदादीन् स्वभक्तान् श्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति हरति स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः ।
किन्तु प्रेमैकसीमां मधुररससुधासिन्धुसारैरगाधाम् श्रीराधामेव जानन्मधुपतिरनिशं कुञ्जवीथीमुपास्ते ॥ (श्रीराधासुधानिधि - २३५)

श्रीकृष्ण ने सृष्टि आदि की बात को तो दूर कर दिया है । नारद आदि अपने भक्तों का थोड़ा भी विचार नहीं करते । श्रीदामा आदि सखाओं के साथ भी नहीं मिलते हैं और अपने माता-पिता (नन्द-यशोदा) के स्नेह की भी परवाह नहीं करते किन्तु वही मधुपति श्यामसुन्दर श्रीराधारानी की आराधना करते हैं और राधारानी श्यामसुन्दर की आराधना करती हैं । यह वही भूमि है, वही बरसाना है, वही स्थल है, जहाँ श्रीजी की कृपा से हम लोग दिन-रात उनका गुण गाते हैं और यह साधन प्रतिदिन अखण्ड रूप से चलता है, राधारानी का यह अखण्ड कीर्तन, अखण्ड गुणगान ७३-७४ सालों से अखण्ड रूप से चल रहा है; यह श्रीजी की कृपा है ।

श्रीमानमन्दिर के प्रबन्धक 'श्रीराधाकान्त शास्त्री' (भैयाजी) के शब्दों में –

श्रद्धेय श्रीरमेशभाई ओझाजी यहाँ पधारे हैं । आपके पूर्व यहाँ पूज्य श्रीमुरारीबापूजी की कथा हुई थी, उन्हें भी यहाँ की श्रीरासरसमयी 'आराधना' बहुत अच्छी लगी थी, उन्होंने 'माताजी गोशाला' के पर्वत पर बने अपने निवास स्थल पर यहाँ के बालक-बालिकाओं को दो बार बुलाया था । इस बार भागवत कथा के माध्यम से श्रद्धेय श्रीओझाजी की रसमयी वाणी सुनकर हमारे मानमन्दिर के बालक-बालिकायें इतना मन्त्र मुग्ध हो गये कि इन्होंने मुझसे कहा कि क्या इस बार आप हम लोगों को ओझाजी महाराज से नहीं मिलवायेंगे । हमारे भाईजी श्रीओझाजी दिव्य दृष्टा हैं, उन्होंने बालकों की वाणी सुन ली और इन पर कृपा करने के लिए स्वयं ही यहाँ 'आराधना-भवन' में आ गये । भाईजी महाराज ! हम लोग तो ब्रजवासी हैं और ब्रजवासी उजड्ड होता है, उसमें न कोई सभ्यता होती है और न किसी प्रकार की कोई औपचारिकता होती है । हम लोगों ने आपकी कथा श्रवण कर ली, आपकी वाणी सुन ली किन्तु इससे मन तृप्त नहीं हुआ । जब तक वाणी सुनने के साथ-साथ वार्त्ता न हो, स्पर्श न हो, मिलन न हो तो लगता है कि सब कुछ अधूरा रह गया है और इसमें भी सात दिन तक इतना प्रेम देकर आप अब विदा हो रहे हैं तो लग रहा है कि भाईजी क्यों जा रहे हैं ? ऐसी हमारी धारणा है । हमारे यहाँ के बच्चे और साधु-सन्त आपसे बहुत प्रेम करते हैं और आपने भी कृपा करके हम सबको दर्शन दिए । हमारे श्रीबाबामहाराज अभी अस्वस्थ हैं, यदि वे स्वस्थ होते तो गोशाला के कथा-मण्डप में बैठकर सात दिनों तक आपकी कथा का श्रवण करते । स्वास्थ्य विपरीत होने पर भी इस संध्याकालीन आराधना में वे सदा उपस्थित रहते हैं । अस्वस्थ होने पर भी महाराजजी प्रतिदिन १८ घंटे तक श्रीराधासुधानिधि के पाठ में ही निमग्न रहते हैं । कितनी भी अस्वस्थता हो, श्रीजी के यश से भरपूर दिव्य ग्रन्थ श्रीसुधानिधिजी के पाठ से वे कभी भी अपने को वंचित नहीं करते हैं । संध्याकालीन आराधना में भी घोर अस्वस्थता के बावजूद वे यहाँ उपस्थित हो जाते हैं और इस संकीर्तन-आराधना में आने से उनका स्वास्थ्य भी अनुकूल हो जाता है । भाईजी ! आपने आज बहुत कृपा की जो यहाँ पधारे । हमारी संस्था के बच्चों को आप अब आशीर्वाद प्रदान कीजिये ।

श्रीभागवतकथा-व्यास 'श्रीरमेशभाई ओझाजी' के शब्दों में –

"प्रभोर्नन्दकुमारो मे स्वामिनी वृषभानुजा, कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं कृतार्थोऽहं न संशयः ।"

श्रीवृषभानुललीजी के चरणद्वय में दण्डवत् करके परम रसिक, परम विरक्त पूज्य श्रीबाबाजी को प्रणाम करते हुए यह जो दिव्य कीर्तन-नर्तन के द्वारा श्रीराधारानीजी के कृपारस को आप आत्मसात् कर रहे हो, इसका दर्शन करके हमारे जैसों के सूखे रेगिस्तान की धरती में भी वर्षा हो जाती है । रसानुभव के लिए तो इस व्रज में स्वयं योगेश्वर भगवान् शिवजी भी आ जाते हैं; गोपी भाव से, सखी भाव से वे भी रासलीला में सम्मिलित हो जाते हैं और उनको आया देखकर रसेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण भी बड़े प्रसन्न हो जाते हैं । इन दिव्य बच्चियों का दिव्य नर्तन और पूज्य बाबा का दिव्य कीर्तन अपने आप में ही ठाकुरजी का घर है । **"मद्भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद ।"** राधारानी की कृपा से कैसा दिव्य संयोग है कि यहाँ हमने अपनी कथा को इस संकीर्तन से ही संपुटित किया, कथा के प्रारम्भ में भी मेरा यहाँ आना हुआ और आज कथा विराम के पश्चात् भी इस दिव्य कीर्तन में आकर आनन्द प्राप्त किया । मुझे बताया गया कि आज श्रीबिहारीजी का भी प्राकट्य उत्सव है और श्रीसीतारामविवाह-पंचमी तो है ही । वृन्दावन में श्याम का रस तो है ही लेकिन वृन्दावन में ही

(सीतारामविवाह-महोत्सव के माध्यम से) राम का रस भी है । आजकल विवाह का मौसम तो चल ही रहा है तो स्वयं अयोध्या के राजा राम ने सोचा कि चलो, बरसाना में चलकर अपना विवाह रचाते हैं । बक्सर वाले मामाजी पूज्य श्रीनारायणदास भक्तमालीजी की सुपुत्री के द्वारा जो प्रतिवर्ष देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में श्रीसीताराम-विवाहोत्सव होता है, वह बरसाना की 'श्रीमाताजी गौशाला' में हो रहा है । मैं बहुत ही प्रसन्न ही नहीं अपितु अभिभूत भी हूँ कि अबकी बार ही नहीं, इसके पूर्व भी दो बार मेरा यहाँ आना हुआ है लेकिन सतत् आठ दिन बरसाना में रहने का अवसर इस भागवत-कथा के निमित्त मुझे पहली बार प्राप्त हुआ । प्यारे सभी बच्चे ! सभी बच्चियाँ !! श्रीराधाजी की सखियाँ !!! आटा गूँथने के लिए पानी चाहिए, वह दिव्य रस यहाँ से प्राप्त हुआ, चलो अब रोटी बनेगी-पकेगी, राधारानी कृपा करेंगी । इस आयु में पूज्य बाबा का यहाँ विराजना, संकीर्तन करना और शरीर की जो भी स्थिति है, उस स्थिति में भी दिन भर राधाराधन में मग्न रहना, हम सबके लिए बहुत ही प्रेरणा की बात है । पूज्य बाबा को प्रणाम करता हूँ और अन्दर से हम सब यह प्रार्थना करते हैं कि आपका श्रीविग्रह स्वस्थ और ऐसा समर्थ रहे कि हम लोग भी आपके सानिध्य में सदा ही इसी प्रकार कीर्तन करते रहें । आपके स्वर और आपके आशीर्वाद के साथ यह यात्रा अविरल चलती रहे; ऐसी कामना श्रीराधारानी के चरणों में करते हैं । **पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ..... राधे-राधे ..... ॥**

आत्मस्वरूप प्रदायिनी 'श्रीगीताजी'

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ (गीतामाहात्म्य ६)

समस्त उपनिषद् गायें हैं और 'गोपालकृष्ण' गोपालन और गोदोहन करने वाले ग्वारिया हैं, उन्होंने अर्जुन को बछड़ा बनाकर गीता रूपी अमृत का दोहन कर अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण जगत को गीतामृत का पान कराया । गीता की महिमा अवर्णनीय है, यह समस्त वेद-उपनिषदों का सार है । गीता को मोह-विभंजनी कहा गया है क्योंकि यह मनुष्य के मोह का समूल विनाश कर देती है । कुरुक्षेत्र के रणांगण में मोहग्रसित अर्जुन के मोह का नाश भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीतामृत का पान करने से ही हुआ । इसलिए कोई भी हो, गृहस्थ अथवा विरक्त, जिसको किसी भी प्रकार का मोह है, गीता के द्वारा उसका विनाश हो जाता है । गीता की प्राप्ति श्रीकृष्ण-कृपा से ही होती है । पद्मपुराण में गीता के प्रत्येक अध्याय के माहात्म्य से सम्बंधित सच्ची कथाओं का सविस्तार उल्लेख किया गया है कि गीता के केवल पाठ करने मात्र से अनेक चमत्कार (लौकिक व पारलौकिक लाभ) हुए ? यह चमत्कार हर आदमी के साथ हो सकता है । श्रीगीताजी के श्रद्धा-भावपूर्वक पाठ, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, कथन-वर्णन, अनुशीलन आदि करने से सहज आनन्दस्वरूप श्रीभगवान् की प्राप्ति हो जाती है । मोहविभंजनी गीता के द्वारा केवल अर्जुन के ही मोह का नाश नहीं हुआ, संसार में जिस किसी ने भी गीता का अध्ययन किया, उसके मोह का नाश हो गया ।

आज भी अधिकांश हिन्दू घरों में मृत्यु के समय लोग मरणासन्न व्यक्ति के कल्याण हेतु गीता पाठ करते हैं ताकि वह यह सोचकर मरे कि आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य है, इसकी मृत्यु नहीं होती है, इसको कोई मार नहीं सकता, शस्त्र इसको काट नहीं सकते, अग्नि इसको जला नहीं सकती, यह अजर-अमर है । इस विश्वास के साथ जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है तो उसे भय नहीं लगता और आत्मस्वरूप की ही प्राप्ति होती है । आत्मानुभूति यदि नहीं है परन्तु गीता के श्रवण व पाठ से विचारों में आत्मा-परमात्मा का जो अनुभव होता है, वह अवश्य ही मनुष्य को सद्गति प्रदान करेगा क्योंकि भगवान् ने गीता में यह बात स्वयं कही है – **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।**

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (श्रीगीताजी ८/६)

अंतिम समय देह-त्याग करते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, उसी को प्राप्त करता है । बहुत से लोग कहते हैं कि हम गीता को समझ नहीं सके, हमें आत्मा का अनुभव नहीं हुआ । आत्मा का अनुभव चाहे हो अथवा न हो किन्तु जैसा कि भगवान् ने उपरोक्त श्लोक में कहा है कि शरीर छोड़ते समय मनुष्य जिस भाव का स्मरण करता है, उसी

को प्राप्त करता है । अतः यदि मनुष्य को भगवान् का अनुभव नहीं है परन्तु अंतिम समय उनका स्मरण करता है तो उसे निश्चित ही भगवत्प्राप्ति हो जाएगी । यह श्लोक इस बात का प्रमाण है और स्वयं भगवान् ने कहा है । इसी बात को भगवान् ने आठवें अध्याय में फिर से दोहराया है ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध च । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ (श्रीगीताजी ८/७)

सदा मेरा स्मरण करो और जब मन-बुद्धि मुझमें समर्पित हो जायेंगे तो तुम निश्चित ही मुझे प्राप्त कर लोगे ।

इसलिए गीता पढ़ने वाले को मृत्यु से भय नहीं करना चाहिए । भय इस बात का होना चाहिए कि कभी भगवान् की विस्मृति न हो । भगवान् ने यह बात गीता में बार-बार कही है कि मैं सतत् स्मरण से मिलूँगा । भगवान् की प्राप्ति हमें तभी होगी जब सदैव ही उनका स्मरण करेंगे ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः । तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ (श्रीगीताजी ८/१४)

मनुष्य जीवन का प्रमुख उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है परन्तु लोग प्रायः ऐसा सोचते हैं कि भगवान् का मिलना बहुत कठिन है किन्तु गीता के अनुसार भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं बल्कि अत्यंत सुलभ है । भगवान् कहते हैं कि जो सतत् मेरा स्मरण करता है, उसे मैं अति शीघ्र मिलता हूँ । जो सदैव भगवत्स्मरण करता है, समझो कि भगवान् उसको मिल गए, इसमें कोई संशय नहीं है । भगवान् ने कई जगह गीता में इस बात को कहा है । इसलिए हमें संकीर्तनाराधन (नाम-रूप-लीला-गुणगान) व सेवाराधन करते हुए अधिक से अधिक भगवत्स्मरण करना चाहिए, इससे निश्चित ही भगवान् की प्राप्ति हो जाएगी । यह निश्चित समझो कि जो गीता पढ़कर निरन्तर भगवान् की याद करता है, उसको भगवान् मिल गये । इसलिए गीता के श्लोकों को कंठस्थ कर लेना चाहिए, उनके भावों को हृदयंगम कर लेना चाहिए, जो इसमें आलस्य करता है, वह मृत्यु की ओर जा रहा है । गीता के श्लोकों का अंतिम समय स्मरण बना रहे तो मनुष्य मृत्यु को जीत लेगा क्योंकि गीता मृत्युपाशछेदिनी है, यह अविद्या और मृत्यु का विनाश कर देती है ।

पतन का प्रवेश-द्वार 'विषय-चिन्तन'

ध्यायतो विषयान्पुंसः संङ्गस्तेषूपजायते । सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ (श्रीगीताजी २/६२,६३)

ये आठ पतन की सीढ़ियाँ हैं । पहली सीढ़ी है 'ध्यायतो विषयान्' - जब मनुष्य विषयों का चिन्तन करता है। ध्यान का अर्थ है – 'चिन्तन', चिन्तन करने से दूसरी स्थिति सङ्ग (आसक्ति) पैदा हो जाती है । आसक्ति के बाद तीसरी स्थिति 'कामना' पैदा हो जाती है । जब कामना पूरी नहीं होती है तो मनुष्य के अन्दर क्रोध या द्वेष उत्पन्न हो जाता है । यह चौथी स्थिति है । पाँचवी स्थिति में क्रोध के बाद 'सम्मोह' उत्पन्न होता है अर्थात् चेतना शक्ति समाप्त हो जाती है । चेतना खत्म हो जाने का नाम 'सम्मोह' है या यों समझो कि अँधेरा छा जाता है । छठवीं स्थिति में सम्मोह से 'स्मृति' का नाश हो जाता है । मनुष्य भूल जाता है कि हम कौन हैं, हमे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए । सातवीं स्थिति में स्मृतिनाश से 'बुद्धि का नाश' हो जाता है और बुद्धिनाश से उसका आठवीं स्थिति में सदा के लिए विनाश हो जाता है । ये पतन के आठ चरण हैं । जिसको अपना पतन नहीं करना है, उसको विषयों का चिन्तन या ध्यान नहीं करना चाहिए । विषयों के चिन्तन से आसक्ति हो जाती है । स्त्री-पुरुष की आसक्ति क्यों होती है क्योंकि उनका पारस्परिक विषय का सम्बन्ध होता है, इसीलिए आसक्ति होती है । विषय न होता तो इतनी आसक्ति न होती । विषय के चिन्तन से आसक्ति होती है, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से स्मृति नाश, स्मृतिनाश से बुद्धिनाश, बुद्धिनाश से जीव का नाश, सर्वनाश हो जाता है । बुद्धिनाश से जीव भूल जाता है कि हमको भजन करना है या सत्संग करना है । भगवान्, संत और गुरु- सबको भूल जाता है । इस तरह उसका सर्वनाश हो जाता है । ये आठ चीजें हैं । इन आठों से बचना चाहिए । इन आठों में कोई भी चीज आ जायेगी तो सर्वनाश कर देगी । किसी ऊपरी इमारत की सीढ़ी से गेंद

लुढकाओ तो सीधे नीचे जाकर रुकेगी, बीच में रुकने की कोई जगह नहीं होती, इसी तरह जब थोड़ा भी क्रोध या द्वेष होता है तो सम्मोह हो जाता है, सम्मोह से स्मृति नाश और फिर बुद्धि का नाश हो जाता है । जैसे जो लोग सत्संग छोड़ कर चले जाते हैं, उनकी स्मृति का नाश हो जाता है, उससे उनकी बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नाश से सर्वनाश हो जाता है । इसलिए पतन की मूल कारण ये आठ चीजें हैं । इन आठों से बचना चाहिए, नहीं तो इनमें से यदि एक चीज भी आएगी तो सर्वनाश कर देगी । आठों का आपस में सम्बन्ध है, ये एक दूसरे के कार्यकारण भाव हैं, जैसे - प्रकाश आएगा तो अंधकार दूर होगा और अंधकार आएगा तो प्रकाश चला जायेगा, वैसे ही सम्मोह हुआ तो स्मृति चली जायेगी और स्मृति गयी तो बुद्धिनाश और बुद्धिनाश के बाद उस व्यक्ति को कोई बचा नहीं पायेगा, सर्वनाश हो जाता है । सम्मोह काम से भी पैदा होता है और क्रोध से भी पैदा होता है । आपस में राग-द्वेष पैदा हुआ तो उससे सम्मोह पैदा हो जाएगा । कितने ही लोग आपस के राग-द्वेष के कारण महापुरुषों का सत्संग छोड़ देते हैं । क्रोध अर्थात् द्वेष के कारण सत्संग छोड़कर चले जाने से लोगों की स्मृति का नाश और तदनन्तर बुद्धि का नाश हो जाता है । ऐसा देखने में आता है कि बहुत से साधक जो किसी श्रेष्ठ महापुरुष के सत्संग को छोड़कर चले जाते हैं तो पारस्परिक द्वेष से जाने के बाद उनकी बहुत-सी शाखा हो गयी और व्यवसायात्मिका बुद्धि एक-सी नहीं रही, फिर वे अपनी प्रसिद्धि के कार्यों में लग पड़ते हैं और जब आदमी प्रसिद्धि के लिए काम करता है तो सब व्यापार बन जाता है क्योंकि व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है और अलग होने पर बहुत-सी शाखाएँ हो जाती हैं, शाखाएँ बँट जाती हैं । कुछ लोग प्रसिद्धि के लिए सेवा-कार्य करने लगते हैं, कुछ लोग अपनी ख्याति के लिए दूसरी सेवा ले लेते हैं परन्तु मूल में एकमात्र भगवान् ही मिलें, व्यवसायात्मिका बुद्धि रहे, यह बात नहीं रहती है । ऐसे लोगों को देखा गया है कि वे स्वयं बहुशाखा वाले होते हैं और दूसरों को भी बहुशाखा वाला बना देते हैं । वे गीता को समझ नहीं पाते । व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही है कि भगवान् मिलें और जब वह नहीं है तो चाहे कथा है या कीर्तन है, उसे मनुष्य अपने नाम के लिए, प्रसिद्धि के लिए करता है क्योंकि शाखाएँ बहुत-सी बँट गयीं । ऊपर से दिखाई पड़ता है कि यह तो बहुत अच्छा काम है, यह सेवा है, यह भण्डारा है, यह संत-सेवा है, यह गौसेवा है; लेकिन जब शाखा बँट गयी तो आपस में एक सेवक, दूसरे सेवक से चिढ़ता है । एक भाषण (प्रवचन) करने वाला, दूसरे प्रवचनकार से चिढ़ता है, क्यों ? क्योंकि शाखा अलग-अलग हो गयीं, इसलिए उससे विनाश हो जाता है । अतः ये आठ सीढ़ियाँ हैं विनाश की ।

मनुष्य यदि विषयों का चिन्तन या ध्यान न करे तो कभी भी उसका पतन नहीं हो सकता । पतन शुरू होता है विषयों के चिन्तन से । "ध्यायतो विषयान्पुंसः" विषयों का चिन्तन या ध्यान यह पतन की पहली सीढ़ी है और उसके बाद दूसरी सीढ़ी यह है कि चिन्तन के बाद आसक्ति हो जाती है, मन चिपक जाता है, मन का चिपकना ही आसक्ति है । जिसका चिन्तन हुआ, मन वहाँ चिपक गया और आसक्ति के बाद काम उत्पन्न हो जाता है । काम का अर्थ है- 'इच्छा' । शत्रु का चिन्तन हुआ तो मारने की इच्छा पैदा हो जाएगी, मित्र का चिन्तन हुआ तो मिलने की इच्छा पैदा हो जाएगी । राग और द्वेष दो परिवार हैं । राग वहाँ होता है, जहाँ प्रेम है; राग का चिन्तन हुआ तो काम पैदा हो जाएगा । जहाँ द्वेष है, वहाँ का चिन्तन हुआ तो क्रोध पैदा हो जाएगा । चिन्तन ही जड़ है । चिन्तन से मन चिपका और मन के चिपकने के बाद या तो काम पैदा होगा या क्रोध और दोनों ही सम्मोह पैदा कर देते हैं । सम्मोह क्या है, स्मृति का नाश है । जब भगवान् से मन हटा तो संसार का चिन्तन हुआ । संसार में मन चिपका तो या तो काम पैदा हुआ या क्रोध पैदा हुआ । दो ही चीज पैदा होती हैं । इसीलिए इन दोनों (काम-क्रोध) से जो अलग है, उसको ब्रह्मज्ञान या भगवान् की प्राप्ति हो जाती है । ये बात पाँचवें अध्याय में भगवान् ने कहा है – **कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।**

अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ (श्रीगीताजी ५/२६)

काम-क्रोध से जिसका मन अलग है, वह सदा ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है । ये दो ही चीजें हैं जो मनुष्य को भगवान् से अलग करती हैं – काम और क्रोध अर्थात् राग और द्वेष । ये दोनों ही सम्मोह पैदा करते हैं और सम्मोह से स्मृति का

नाश हो जाता है । गीता के (२/६२ और २/६३) इन दो श्लोकों में पतन के आठ स्तर बताये गये हैं । पहला है विषयों का चिन्तन – "ध्यायतो विषयान्पुंसः ।" जब मनुष्य विषयों का चिन्तन या ध्यान करता है, उसी समय मन वहाँ चिपक जाता है, इसको आसक्ति कहते हैं । मन का एक स्वभाव है कि वह चिपक जाता है । मन जहाँ जायेगा, वहाँ चिपक जायेगा, इसकी आसक्ति हो जाती है और आसक्ति हो जाने के बाद तीसरा चरण है कि कामना पैदा हो जाएगी । मान लो किसी से राग है तो वह उससे मिलना चाहेगा; द्वेष है तो क्रोध में उसको मारना चाहेगा, उसका अनिष्ट चाहेगा । काम है तो इच्छा जरूर पैदा हो जाएगी, मन कहीं जाकर चिपक जाएगा । शत्रु है तो उसका अनिष्ट सोचेगा, मित्र है तो उसका लाभ सोचेगा । काम के बाद क्रोध अवश्य पैदा होगा । काम्य पदार्थ न मिलने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है । क्रोध और द्वेष एक ही चीज हैं और ये दोनों सम्मोह पैदा कर देते हैं । सम्मोह क्या है, चेतना का लय होना ही सम्मोह है । चेतना क्या है, यह एक प्रकाश है । सम्मोह अंधकार उत्पन्न कर देता है । अंधकार में कोई चीज दिखाई नहीं देती है । सम्मोह से स्मृति में विभ्रम हो जाता है । स्मृति क्या है, यह एक रोशनी है जो विषयों को देखती है और स्मृति का नाश होने के बाद बुद्धि का नाश हो जाता है । स्मृति का नाश अवश्य होता है । विषय भोग आते हैं तो सम्मोह पैदा कर देते हैं, जिससे स्मृति का नाश हो जाता है । स्मृतिनाश के बाद ही मनुष्य विषय-भोग करता है क्योंकि स्मृति के रहते सभी को पता रहता है कि भोग बल को नष्ट कर देता है, आयु को नष्ट करता है, तेज को नष्ट करता है । भोग से मनुष्य की बारह शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं – **"इन्द्रियाणि मनः प्राण आत्मा धर्मो धृतिर्मतिः । ह्रीः श्रीस्तेजः स्मृतिः सत्यं यस्य नश्यन्ति जन्मना ॥"** (श्रीमद्भागवतजी ७/१०/८) भोग तो दूर रहा, कामना के जन्म होते ही १२ शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं । ये १२ शक्तियाँ हैं – १. इन्द्रियाँ २. मन ३. प्राण ४. आत्मा ५. धर्म ६. धृति ७. मति ८. ह्री (लज्जा) ९. श्री १०. तेज ११. स्मृति १२. सत्य । केवल कामना के जन्म होते ही इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है । मन की शक्ति भी नष्ट हो जाती है । प्राण-शक्ति भी नष्ट हो जाती है । यहाँ आत्मा का अर्थ है – 'शरीर ।' शरीर का बल भी नष्ट हो जाता है । धर्म भी नष्ट हो जाता है । धृति एक शक्ति है, वह भी नष्ट हो जाती है । **'धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥'** (श्रीगीताजी १८/३३) मन, प्राण व इन्द्रिय – इनकी क्रियाशक्ति का नाम धृति है । ये तीनों जब अव्यभिचारी होकर योग में धारण करते हैं तो धृति एक शक्ति होती है । सात्विक धृति में तो सारी क्रियाएँ भजन में लगती हैं, उसके बाद राजसी धृति है, उसमें मनुष्य आसक्ति के कारण अपने मन, प्राण व इन्द्रिय की क्रियाओं को धारण करता है । तामसी धृति में धारण करने की, छोड़ने की शक्ति नहीं रहती है, मनुष्य मुर्दा जैसा हो जाता है । **"यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च । न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥"** (श्रीगीताजी १८/३५) तामसी धृति में मनुष्य अपना कोई भी अवगुण छोड़ नहीं सकता । तामसी धृति ऐसी होती है कि जितने भी अवगुण हैं, जैसे - स्वप्न, भय, शोक, विषाद तथा मद आदि इन्हें छोड़ने की शक्ति नहीं रहती । जैसे - सूरदासजी ने कहा है –**"अवगुण मोते बिसरत नाहीं, पल छिन घड़ी-घड़ी । तुम प्रभु मोसों बहुत करी ॥"** अपने अवगुणों को हम छोड़ नहीं पाते, उसका कारण क्या है, धृति तामसी हो गयी है । राजसी धृति में तो शक्ति रहती है धारण करने की किन्तु इसमें मनुष्य आसक्ति से सब चीजों को धारण करता है । मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं की जो सम्मिलित शक्ति है, उसको सात्त्विक धृति कहते हैं । धृति का स्वरूप क्या है ? **"धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥"** (श्रीगीताजी १८/३३)
मन, प्राण व इन्द्रिय – इनकी क्रियाओं को जो अव्यभिचार भाव से योग (भजन) में धारण करता है, वह सात्त्विकी धृति होती है । जब हम लोग विषयों में आसक्ति करके मन, इन्द्रिय और प्राण की क्रियाओं का उपयोग करते हैं तो वह राजसी धृति होती है, सात्त्विकी धृति बदल गयी और तामसी धृति में तो अवगुणों को छोड़ ही नहीं पाते । अवगुणों में ही चिपके रहते हैं । 'न विमुञ्चति दुर्मेधा' जानते हैं, सत्संग भी करते हैं लेकिन अवगुण नहीं छूटते, विषय नहीं छूटते । ये सब तामसी धृति के उदाहरण हैं इसलिए भगवान् कहते हैं – "स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति"- राग-द्वेष के बाद

सर्वनाश हो ही जाता है । स्मृति का नाश हुआ और बुद्धि का नाश हुआ । इसलिए पतन के आठ स्तरों से बचने का एक ही उपाय है कि राग-द्वेष को छोड़ दो ।

निर्मलता की पहिचान 'निर्द्वन्द्वता'

(श्रीगीताजी - २/६४) रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

राग-द्वेष से जिसकी इन्द्रियाँ अलग हैं, वह विषयों का सेवन करने के बाद भी निर्मलता को प्राप्त कर जाता है । राग-द्वेष से रहित होकर जो विषयों का सेवन करता है, 'विषय' माने यहाँ केवल मैथुन या स्त्री ही नहीं है; खाना-पीना, पहनना - ये सब संसारी विषय हैं । इन्द्रियाँ अपने आधीन हैं तो साधक 'विधेयात्मा' अर्थात् निर्मल मन वाला हो जाता है, 'प्रसाद' यानि स्वच्छता को प्राप्त हो जाता है । इस श्लोक में 'विषयानिन्द्रियैश्चरन्' का मतलब भोग नहीं समझना चाहिए क्योंकि यह बात पहले ही कह दी गयी है कि जो मनुष्य शरीर की रक्षा के लिए खाता-पीता है, उसे कोई पाप नहीं लगता । इन्द्रियों का राग-द्वेष छोड़कर शारीरिक कर्म करने वाले को कोई पाप नहीं लगता ।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः । शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ (श्रीगीताजी ४/२१)

विषयों का सेवन अर्थात् मनुष्य को भोजन करना ही पड़ता है, कपड़ा पहनना ही पड़ता है । केवल इन्द्रियों का राग-द्वेष छोड़ कर शारीरिक कर्म करने वाले को कोई पाप नहीं लगता नहीं तो इस श्लोक (२/६४) का दुरुपयोग होता है । राग-द्वेष से युक्त कोई मनुष्य भोग भोगता है और कहता है कि हम राग-द्वेष से रहित हैं तो यह धोखा है । 'आत्मवश्यै' माने जिसकी इन्द्रियाँ अपने आधीन हैं । 'विधेयात्मा' माने जिसका मन अपने आधीन है और फिर जब ऐसा साधक विषयों का सेवन करता है तो चूँकि मन अपने आधीन है तो वह विषय का सेवन विषय-सुख के लिए नहीं करेगा, जीवन-निर्वाह के लिए करेगा और उससे निर्मलता की प्राप्ति हो जाती है, अन्यथा नहीं होती है ।

मीराबाई ने अपने पद में गाया है – **जोई पहरावै सोई पहरूँ, जो दे दे सोई खाऊँ ।**
जहाँ बिठारे तित ही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ ॥

अपना कोई राग नहीं है कि हम इसी स्थल पर बैठेंगे, हम यहीं भोजन करेंगे या ऐसा ही करेंगे । मीराजी का यह पद राग-द्वेष रहित होकर विषयों को ग्रहण करने का एक सटीक उदाहरण है । उनकी अपनी कोई इच्छा नहीं है, जो प्रभु ने दे दिया, खा लिया, जो पहना दिया वही पहन लिया । दैव इच्छा से जो कुछ प्राप्त हुआ, उसमें न राग है, न द्वेष है । राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों की पहचान है कि वे अपने आधीन रहेंगी, ऐसा नहीं कि हमको गिरा दें, चाहे जहाँ पटक दें । इस तरह से जो जीवन निर्वाह करता है तो निर्मलता को प्राप्त करता है, उसका अंतःकरण स्वच्छ हो जायेगा ।

तीर्थयात्रा के लिए भी शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा है कि सुविधावादी होकर तीर्थयात्रा किया जाए । सुविधा के लिए प्रबंध करना अनावश्यक है । ब्रजयात्रा के सम्बन्ध में शास्त्र में लिखा है कि सुख-सुविधाओं को छोड़ करके बहुत संयत होना चाहिए, थोड़ा ही सामान लेकर चलें । शौचालय-चारपाई आदि का प्रबंध करने को मना किया गया है क्योंकि इससे सुविधावाद बढ़ता है । राग-द्वेष का नाश करने के लिए ही सभी साधन किए जाते हैं । राग-द्वेष को यदि हम लेकर चलेंगे, अपने शरीर का राग, इन्द्रियों का राग लेकर चलेंगे तो वह लक्ष्य नहीं मिल पायेगा । राग-द्वेष से रहित होकर विषयों का सेवन करना है, जितना कि हमको जरूरी है (जैसे - खाना-पीना आदि) उतना ही विषय का सेवन किया जाए । जिससे विषय का अभिनिवेश (राग) बढ़ता है, वह धर्म कोई धर्म नहीं है । इसलिए श्लोक (२/६४) का जो लोग मनमाना अर्थ करते हैं, वे गलत करते हैं । राग-द्वेष से रहित होकर विषय-सेवन का अभिप्राय है कि शरीर के लिए आवश्यक विषयों को ग्रहण किया जाए । इन्द्रियाँ अपने आधीन हों, अपने आधीन मन हो तब आवश्यक विषय ग्रहण करने से मनुष्य प्रसाद (निर्मलता) को प्राप्त हो जाएगा अन्यथा नहीं । जिससे राग-द्वेष बढ़े, ऐसा कर्म धर्म नहीं बन सकता ।

(श्रीगीताजी २/६५) प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

प्रसाद अर्थात् अन्तःकरण की निर्मलता में सभी प्रकार के दुखों की हानि हो जायेगी । अब दुःखों की हानि की जगह चिंता बढ़ रही है कि ज्यादा सुविधा की प्राप्ति हो जाए तो सुविधा देने वाले को भी चिंता है, लेने वाले को भी चिंता है, प्रबन्ध करने वाले को भी चिंता है तो सर्व दुःखों की हानि कहाँ हुयी ? निर्मलता वह है कि सभी दुखों की हानि हो जाए, उससे बुद्धि स्थित हो जायेगी अन्यथा नहीं होगी । जब तक मन प्रसन्न नहीं है, बुद्धि स्थित नहीं हो पाएगी, मनुष्य स्थितप्रज्ञ नहीं हो पायेगा । हम ही लोग यदि ऐसी शिक्षा दें जिससे बुद्धि स्थिर न हो पावे तो वह धर्म, कोई धर्म नहीं है । यह बहुत जरूरी है कि विषयों का सेवन आत्मवश्य इन्द्रियों से किया जाये न कि इन्द्रियों की सुखानुभूति के लिए । भगवान् ने गीता (१८/५) में कहा है – **"यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥"**
यज्ञ, दान और तप आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए । जिस यज्ञ में तप नहीं है, दान नहीं है, उसकी प्रशंसा भगवान् ने नहीं किया । ब्रजयात्रा एक यज्ञ है, इसमें तप भी होना चाहिए, दान भी होना चाहिए । तप की जगह सुख-सुविधा को ही हम प्रधान करके चलेंगे तो भीड़ भले ज्यादा बढ़ जाए लेकिन वह धर्म नहीं बनेगा । जिस समय अंतःकरण स्वच्छ हो जायेगा, सभी प्रकार के दुःख नष्ट हो जायेंगे । इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द सर्वदुःखानां का अर्थ है कि प्रारब्ध आदि भी नष्ट हो जाते हैं और जब चित्त प्रसन्न हुआ, अंतःकरण निर्मल हुआ तब साधक की बुद्धि बहुत शीघ्र स्थित हो जाती है ।

(श्रीगीताजी २/६६) नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥
'अयुक्त' का अर्थ है, जिसके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ साधन में नहीं हैं तथा 'युक्त' का अर्थ है कि मन, बुद्धि व इन्द्रियाँ साधन में लग गयीं; जैसे - भगवान् ने इसी बात को निम्न श्लोक में कहा –

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (श्रीगीताजी २/६१)
इन्द्रियों को संयमित करने पर युक्त हो जाओगे, मत्पर अर्थात् भगवत्परायण हो जाओगे । हम भोग भोगते हुए युक्त नहीं हो सकते, भगवत्परायण नहीं हो सकते । भोग में भोगपरायण हो जायेंगे, कृष्णपरायण नहीं होंगे । 'मत्पर' का अर्थ है - 'कृष्णपर' । कृष्णपरायण होने के लिए इन्द्रियों का संयम जरूरी है । युक्त कौन है, जिसकी इन्द्रियाँ संयमित हैं – 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि' - जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो गयी है । वही बात भगवान् २/६६ में कह रहे हैं – 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' - जो अयुक्त है, उसकी बुद्धि स्थित नहीं रहेगी, चंचलता रहेगी और जब बुद्धि चंचल है तो हृदय में भाव भी दूषित पैदा होंगे और जब भाव में दूषण है तो अशान्ति रहेगी । अशान्ति वाले को सुख नहीं रहता है । चार चीजें एक साथ हैं । बुद्धि अयुक्त है तो भावना अयुक्त है । भावना अयुक्त है तो अशान्ति रहेगी । अशान्ति में सुख नहीं रहता है । जो अधिक चिंता करता है, संसार का चिन्तन करता है तो दुःख के चिंतन के कारण उसका रक्तचाप भी बढ़ जाता है तब उसको सुख नहीं रहता । न शरीर का सुख रहेगा, न इन्द्रियों का सुख रहेगा और जब भावना ठीक है तो अपने आप बुद्धि ठीक, इन्द्रियाँ ठीक, नींद ठीक, सारा शरीर ठीक रहता है और उसको कभी भी दुःख नहीं मिलता । गाँवों में एक कहावत है – **"कै सोवे राजा को पूत, कै सोवे योगी अवधूत ।"** या तो राजा का पुत्र सोता है या योगी अवधूत सोता है । जो अयुक्त है, उसके अंदर बुद्धि नहीं है और जब बुद्धि अयुक्त है तो उसकी भावना भी दूषित है और जब भावना दूषित है तो अशांत रहेगा । अशान्त है तो उसको सुख नहीं मिलेगा चाहे वह राजा हो जाए । अत्यधिक धनी, अरबपति लोग नींद की गोली लेकर बड़ी मुश्किल से सोते हैं । इसलिए अयुक्त नहीं बनना चाहिए । जो अयुक्त है, उसको न बुद्धि रहेगी, न भावना रहेगी, एक दिन उसका सुख चला जायेगा। 'युक्त' का अर्थ है कि हर समय साधन में लगे रहना चाहिए । साधन छोड़ने पर मनुष्य का दुःख या कष्ट अथवा अशान्ति बढ़ती है; चाहे वह कोई भी हो, कितना भी बड़ा हो । भगवान् का आश्रय कभी नहीं छोड़ना चाहिए । जब भगवान् का आश्रय मनुष्य छोड़ देता है तो अशान्त रहता है । भगवान् का आश्रय कभी मत छोड़ो, उनका आश्रय छोड़ने से मुसीबत बढ़ती है । यदि भगवान् का आश्रय पकड़े रहोगे तो संसार में तुमको कोई हिलाने वाला नहीं है । भगवान् का आश्रय पकड़ने वाला एक दिन अवश्य जीतता है, एक दिन अवश्य ही संसार को जीत लेता है । भगवान् का आश्रय ही उचित है और उनका आश्रय लेने वाले की विजय अवश्यम्भावी है, चाहे

सारा संसार ही वैरी हो जाये किन्तु भगवान् का आश्रय कभी छोड़ना नहीं चाहिए। **"कृष्ण मेरा-तेरा प्यार कभी न बदले। चाहे माँ बदले, चाहे बाप बदले; चाहे घर बदले, संसार बदले; चाहे ये तो परिवार सौ बार बदले॥"** चाहे माँ बदले, पिता बदले, कोई भी बदले, परिवार बदल जाये किन्तु भगवान् का आश्रय नहीं छोड़ना चाहिए। इस आस्था के साथ जो चलता है, वह अवश्य विजय प्राप्त करता है। एक गजल है - **"मैं न जाऊँगा अब तेरे दर से, चाहे ठोकर लगा दे कदम से।"**

चाहे कोई ठोकर लगा दे लेकिन भगवान् को नहीं छोड़ना है, इस निष्ठा के साथ रहोगे तो भगवान् तुम्हारा दास हो जायेगा। अगर मजबूती से भगवान् को पकड़ोगे तो निश्चित वह तुम्हारा दास हो जायेगा। इसलिए सारांश यही है कि जिसकी बुद्धि अयुक्त है, उसको कभी भी सुख और शान्ति नहीं मिलेगी और चाहे साधारण से साधारण गृहस्थ है, यदि वह भगवान् के लिए अपनी सुख-सुविधा को छोड़ता है तो निश्चित उसको चिरस्थाई सुख-शान्ति मिलेगी।

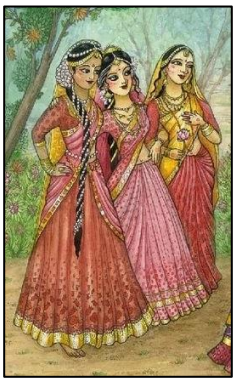

श्रीसखियों की चतुरता

श्रीलोमश-संहिता 'द्वाविंशतितमोऽध्याय' में वर्णित 'श्रीसीतारामजी की मानलीला' से संकलित

भगवान् शिव ने विशेष रूप से बिना पूछे ही भगवती पार्वतीजी को सखियों से सेवित 'श्रीसीतारामजी' युगल सरकार की परम गुह्य (रहस्यमयी) मधुर 'श्रीमानलीला' सुनाई है।

श्रीशिव उवाच

अन्यच्छृणु चरित्रं में श्रीचन्द्रकलया कृतम्।अशोक वाटिकायां वै गोप्य लीला विधायकम्॥ १ ॥
यतस्त्वं पात्रभूतासि ततो वक्ष्यामि ते प्रिये।

श्रीशिवजी बोले कि हे गिरिराजकुमारी ! इस रहस्यमयीलीला-श्रवण में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति होने से मैं तुम्हारे कहे बिना ही उत्तम पात्र जानकर तुमको गुह्यलीला सुनाता हूँ। हे प्राणप्रिये ! अशोक वाटिका में श्रीचन्द्रकलाजू ने अन्य एक परम अद्भुत चरित्र किया है, वही कथा तुमको सुनाता हूँ; सावधान होकर श्रद्धाभक्तिपूर्वक प्रेम से सुनो ॥ १ ॥

एकस्मिन्समये देवि ! रास मण्डल मध्यतः ॥२॥ युग्मपक्ष विधायिन्यः सख्यश्चैव परस्परम्। भूर्य्यकुर्वत् विवादं वै पक्षद्वय समाश्रितम् ॥३॥ काश्चिद्विदेह नन्दिन्याः परत्व प्रति पादिकाः। काश्चित्तु राजपुत्रस्य शशंसुः कीर्तिमुज्वलाम् ॥४॥

हे देवी ! एकबार रासमण्डल के मध्य में दोनों पक्षों की सखियों के बीच अपने-अपने पक्ष के स्थापन की चेष्टा में बड़ा विवाद मचा। कोई तो विदेहकुमारी का परत्व प्रतिपादन करती थी, तो कोई चक्रवर्तिकुमार की उज्जवल कीर्ति का गानकर अपने पक्ष का समर्थन करती थी ॥२-३-४॥

एवं कौतूहलं चक्रुः स्वे-स्वे पक्षे समुत्सुकाः। खण्डनं मण्डनं भूरि शास्त्रन्यायानुदर्शनैः ॥५॥ प्रमाणभूतैर्निखिलैः प्रत्यक्षादि प्रदर्शनात्। शरणागत रक्षायां पुण्ययापरतात्मनम् ॥६॥ रक्षणे तत्पराणां च मर्षणे दुःखदायिताम्। मित्रत्वं शत्रुतायां वै कस्याधिक्यं प्रदर्शये ॥७॥

इस प्रकार अपने-अपने पक्ष का विजय करने के लिये सभी बड़ी उत्कण्ठित रहीं। अपने पक्ष का मण्डन तथा अपर पक्ष का खण्डन शास्त्रानुकूल न्याय संगत कर रही थीं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी दिखाती हुई शरणागतों की रक्षा में कौन अधिक श्रेष्ठ है, यही सिद्ध करने में अपनी सम्पूर्ण तर्क-शक्ति लगा रही थीं। कितनी इसी विचार में रहीं कि आश्रितों की रक्षा तथा भक्त-सन्तापी दुष्टों का नाश करने में एवं मित्रता-शत्रुता में कौन किससे अधिक हैं, क्या बताया जाए ॥५-६-७॥

सुग्रीवादि कपिन्द्राणां राक्षसीनां च मर्षणे। क्षमा शीलत्व करुणा श्रीसीताया मताधिका ॥८॥
मित्रत्वे च हरेः प्रीतिः शत्रुत्वे च बधस्तथा।

कोई कहती हैं – "हम तो किसी का पक्ष न लेकर यही बात उचित समझती हैं कि सुग्रीवादि आश्रितों को सेवा में विलम्ब हो जाने से उस दोष के दण्ड में श्रीलक्ष्मणजी द्वारा कितना भय-त्रास दिखाया गया। परन्तु श्रीस्वामिनीजू ने अपने देह को सभी प्रकार से दुःख देने वाले जयन्त तथा राक्षसियों इत्यादि को दण्ड देते समय प्रभु श्रीराम को एवं मारुति कुमार

(हनुमानजी) को निवारण कर अत्यन्त कृपा-परवशता प्रकट कर दिखायी है । प्रभु तो मित्रों से प्रीति करना तथा शत्रु का वध करना - यह नीति व्यवहार में लाते हैं परन्तु श्रीकिशोरीजी शत्रु-मित्र सभी अपने ही जानकर सब का परम कल्याण चाहती हैं; किसी को दण्ड प्रदान नहीं करती हैं" ॥८॥

श्रीशिव उवाच

शैथिल्यं स्वात्मपक्षस्य दृष्ट्वा राजीवलोचनः । इति सञ्चिन्तयामास हृदि संयतचेतसा । ९॥ यद्यहं चात्र तिष्ठामि तदा हास्यो भवेन्मम । मत्पक्ष निरतानां वै मनोग्लानिर्भविष्यति ॥ १० ॥ तदा हास्यं करिष्यन्ति सख्यः सर्वास्तु मे बहु । ततोऽन्यत्र ब्रजाम्यद्यवादः शान्तो भविष्यति ॥ ११ ॥

श्रीशंकरजी बोले कि हे पार्वती ! राजीवलोचन प्रभु ने अपने पक्ष की शिथिलता देखकर मन में स्थिर चित्त से विचार किया कि यदि अब मैं यहाँ पर रहा तो मेरी हँसी होगी, तब मेरे पक्षवालों के मन में ग्लानि आवेगी । उनका गिरा हुआ मन देखकर पर पक्षीय सखियाँ मेरी और भी हँसी करेंगी । इसलिये यही उचित है कि मैं आज अभी कहीं अन्यत्र चला जाऊँ, ऐसा करने से विवाद अपने-आप ही शान्त हो जाएगा ॥ ९ - १० - ११ ॥

इति व्याजेन केनापि राजपुत्रो जगाम ह । एकान्ते कुञ्ज गहने स्वात्मानं गोपयन् रहः ॥ १२ ।
व्यतीते तु क्वचित्काले विस्मयः सुमहानभूत् । सखीनां चैव सर्वासां मनस्तापोऽति दुस्तरः ॥ १३ ॥
मनांसि तस्करोऽस्माकं हृत्वा कामं धनानि च । गतवान् कुत्र देशेषु पश्यध्वं सत्वरं च तम् ॥१४॥
ततस्तु सहजानन्दारूपिणी सकलेश्वरी । विरहोत्कण्ठिता भूत्वा ह्यु दतिष्ठत्सहाङ्गना ॥ १५ ॥

ऐसा विचार कर किसी बहाने से राजकुमार अन्यत्र कहीं चले गये, एकान्त गहन निकुञ्ज में अपने को छिपाकर बैठ गये । कुछ काल बीतने पर वहाँ एक बड़ा विस्मय हुआ । सभी सखियों के मन का वह विजयोल्लास नष्ट हो गया, मन में प्रियतम के वियोग का दुस्तर विरह सबको सताने लगा । वह कुटिल चोर हमारा मन, हृदय-धन चुराकर कहाँ चला गया ? आप लोग सब जगह जाकर देखो ! पता लगाओ !! शीघ्र ही खोजकर लाओ !!! ऐसा कहकर सहजानन्द स्वरूपिणी सर्वेश्वरी श्रीकिशोरीजी अपनी आत्मीय अङ्गजा सखियों समेत विरह में व्याकुल होकर आँख मूँदकर बैठ गयीं ॥१२-१३-१४-१५॥

अन्वेषणे रताः सर्वाः कुञ्जे-कुञ्जे बने-बने ।
अन्वेषणेन न प्राप्ता राजपुत्रं विचक्षणा ॥१६॥ ततश्चिन्ताकुलाः साक्षाद्विरहासक्त मानसाः ।
पुनः पुनर्मनस्तापं कुर्वन्त्योरामवल्लभाः ॥१७॥

कुञ्ज-कुञ्ज में, वन-वन में सर्वत्र सब सखियाँ खोजने लगीं, परन्तु कहीं राजपुत्र का पता न लगा । तब चिन्ता से व्याकुल विरह वेदना से दुःखित चित्त रामवल्लभा परम विलक्षणा वे सब विलाप करने लगीं ॥१६-१७ ॥

श्रीसीतोवाच

युस्माभिर्मत्प्रियो वादे पराजित्य पलायितः । न सोऽस्ती यः प्रियतमं पुनर्मामद्य मेलयेत् ॥ १८ ॥
किं करोमि क्व गच्छामि स उपायो न दृश्यते । येनोपायेन पश्येयं वल्लभं श्यामसुन्दरम् ॥१९॥
कन्दर्पकोटी लावण्यं मधुरं रसविग्रहम् । अस्माकं हर्षजनकं नानालीला विधायकम् ॥ २० ॥
एवं विलप्य सा तूष्णीं भूत्वा शोक समन्विता । अधोमुखी शोचतीव विलिखन्ती महीतलम् ॥ २१ ॥

श्रीकिशोरीजी बोलीं – "हे सखियो ! आप लोगों ने आपस में विवाद कर राजकुमार को हरा दिया, इसलिये वे यहाँ से चले गये । आप सबमें कोई ऐसा नहीं है जो प्रियतम को खोजकर आज पुनः उनसे मेरा मिलन करा देवे । मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किस उपाय से श्यामसुन्दर मिलेंगे ? कोई ऐसा उपाय जानती हो तो बताओ जिस उपाय से प्राणवल्लभ प्रियतम का मैं दर्शन पा सकूँ । कोटि कन्दर्पलावण्यधाम मधुररसविग्रह, नाना भाँति केलिकलाविलास विलक्षण हमारा हर्ष बढ़ानेवाले 'राजीवलोचन' कहाँ चले गये" - ऐसा विलाप करती-करती शोक से विकल हृदय श्रीप्रियाजू चुप हो गयीं, पृथ्वी को नखों से खोदती हुई नीचे मुँह करके मौन होकर बैठ गईं ॥१८-१९-२०-२१ ॥

देवि ! तदन्तरे श्रीमद्राजपुत्रोऽति विह्वलः । जग्राह वंशिकां दिव्यां काममन्त्रमयीं पराम् ॥ २२ ॥
आं-आं क्लीं क्लीं कामरूपे प्रिये मत्प्राणवल्लभे । आगच्छागच्छ देवेशि सीते स्वानन्दरूपिणी ॥ २३ ॥
क्लीं-क्लीं स्वाहेति मन्त्रेण प्राभिमन्त्रय विधानतः । आपूर्ण वंशिकां सम्यक् वादयामास तत्ववित् ॥ २४ ॥
हे पार्वती ! इसी बीच में श्रीराजेन्द्रकुमार प्रियाजू के विरह में अत्यन्त विह्वल होकर उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अपने हाथ में दिव्य काममन्त्रमयी सर्वश्रेष्ठ वंशी को लेकर बजाने लगे । "आं-आं क्लीं-क्लीं" आदि बीजमन्त्रों का प्रयोग लगाकर, - "हे प्रिये ! हे प्राणवल्लभे ! हे दिव्य कामस्वरूपे ! हे सीते ! हे आनन्द स्वरूपिणी !! हे सर्वदेवेश्वरी !!! आप शीघ्र ही आकर मेरे हृदय को आनन्द प्रदान करिये ।" प्रयोग के विधानानुसार अन्त में "क्लीं-क्लीं स्वाहा" आदि मन्त्र से अभिमन्त्रित कर सर्व तत्व विशारद राजकुमार वंशीध्वनि का विस्तार करने लगे, मुरली बजाने लगे ॥ २२-२३- २४ ॥
तद्ध्वनि सा समाकर्ण्य विरहोत्पादिकां पराम् । आकृष्टचिता चकिता ह्यु दतिष्ठत्तदासनात् ॥ २५॥
चतुर्दिशं वीक्ष्ययन्ति कुत्रेयं वंशिकाध्वनिः । तत्र गच्छाम्यहं त्वद्य चेति निश्चित्य तत्परा ॥ २६ ॥
विरहोत्पादिका उस परम रमणीय वंशीध्वनि का श्रवण करते ही चकित मन से आकृष्ट होकर अपने आसन पर से श्रीकिशोरीजी उठ गईं और यह मनोहर ध्वनि कहाँ से आती है ? इसका पता लगाने के लिये चारों ओर देखने लगीं; मन में निश्चय कर लिया कि जहाँ से यह ध्वनि आती है, वहीं मैं जाती हूँ ॥ २५- २६ ॥
ततश्चन्द्रकला देवी चेष्टा विज्ञा वचोऽब्रवीत् । मैथिलेन्द्र सुते देवि ! कथमुद्विग्नमानसा ॥२७॥
गन्तुमिच्छसि तत्रैव यत्रैषाध्वनिरुत्थिता । आकर्षयामि तं चात्र विद्यया वीणसंस्थया ॥२८॥
राजपुत्रं बलात्तूर्णं कुरुशीघ्रं मनः स्थिरम् । यदि नायात्वसावत्र राजपुत्रो महावलः ॥२९॥
तदा वीणां न गृह्णामि प्रतिज्ञामेऽति सुस्थिरा ।
श्रीस्वामिनीजी की चेष्टा को भलीभाँति परखने वाली श्रीचन्द्रकलादेवी ने उनका मनोरथ जानकर बड़े प्रेम से कहा – "हे मैथिलेन्द्र राजकुमारी ! आप इतनी व्याकुल क्यों हो रही हो ? जिस ध्वनि को सुनकर आप विवश होकर वंशी बजाने वाले के पास जाना चाहती हो, उस राजकुमार को मैं अपनी वीणा के स्वर से आकर्षित कर वरवश यहाँ खींच लाती हूँ, आप मन को स्थिर करें । आपको अपनी ओर खींचने वाला स्वयं ही क्यों न खिंचकर यहाँ चला आवे, क्या उनकी वंशी से आपकी यह वीणा कुछ कम प्रभाव वाली थोड़े ही है, आपके सामने मैं दृढ प्रतिज्ञा करती हूँ कि महाबली राजकुमार को यदि आज खींचकर यहाँ न बुला लूँ तो यह वीणा फिर कभी हाथ में न उठाऊँगी" ॥२७-२८- २९ ॥
अत्रैव तिष्ठ राजेन्द्रपुत्रि ! केलि सुसंविदे । पश्य कौतूहलं मेऽद्य त्यक्त्वा शोकं महत्तरम् ॥३० ॥
द्वारि - द्वारि प्रतिहार्यः स्थापयिष्यामी यत्नतः । प्रवेशं राज पुत्रस्य वारणाय यशस्विनी ॥ ३१ ॥
ममाज्ञया विना तस्य महद्यत्नकृतेऽपि च । न प्रवेशो भवेदत्र राजपुत्रस्य धीमतः ॥ ३२ ॥
तत्समीपे प्रतिहारी सन्देशं नयते तुया । मत्समीपे प्रेषयतामिति मे निश्चिता मतिः ॥ ३३ ।
केलिकोविदा हे श्रीराजकुमारीजू ! आप यहीं रहिये, आपको कहीं जाने का काम नहीं है ? आपको खींचने वाला आकर्षित होकर स्वयं यहाँ आ जायेगा, शोक का परित्यागकर आप आज मेरा कौतुक देखिये । द्वार-द्वार पर पहरेदार खड़ा कर देती हूँ । हे यशस्विनी ! राजकुमार के अकस्मात् प्रवेश का निवारण करने के लिये मैं ऐसा करती हूँ । मेरी आज्ञा बिना कितना ही विनय निहोरा करें, आप परम चतुर राजकुमार को भीतर न आने देवें । सन्देशा लेकर उनकी कोई दूती आवे तो उसको आप सीधा मेरे निकट भेज दीजिएगा, मेरा निश्चय है कि मैं उनको यहाँ बुलाकर ही छोड़ूँगी ॥३०-३१-३२-३३ ॥
इति श्रुत्वा वचो देवी हर्ष विस्फारितेक्षणा । कुरु यत्नं प्रिये शीघ्रं प्रियः प्राप्नोतु मां यथा ॥३४॥
ऐसा वचन सुनकर श्रीचन्द्रकलाजी से आनन्द से विकसित नेत्रवाली श्रीस्वामिनीजू बोलीं – "हे प्रिये ! आप शीघ्र ही ऐसा यत्न करें कि प्रियतमजू तुरन्त ही मुझे आकर मिलें ।" ॥३४॥

गुण-कला विदग्धा 'श्रीचन्द्रकलाजी'

ततश्चन्द्रकला देवी प्रतिद्वारं शतं शतम् । स्थापयामास विधिव द्यष्टीहस्तान् सखीगणान् ॥ ३५ ॥
सप्त कक्षावृते कुञ्जे सखिभिर्बहुभिर्वृते । महार्हरत्नपर्यङ्के संस्थाप्य सकलेश्वरीम् ॥ ३६ ॥
अहमाकर्षयिष्यामि राजपुत्रं कलाविदम् । बोधयामास विधिवद् वीणामादाय वेगतः ॥ ३७॥

तत्पश्चात् श्रीचन्द्रकलादेवी ने प्रत्येक द्वार पर सौ-सौ सखियों को खूब समझाकर हाथ में छड़ी धारण कराकर पहरे पर नियुक्त कर दी । सात आवरण के अन्दर निकुञ्ज में रत्नपर्यङ्क पर सर्वेश्वरी श्रीस्वामिनी जू को विराजमान कराकर श्रेष्ठ-श्रेष्ठ बहुत सखियों को उनकी परिचर्या में लगाकर, - "मैं अब कलाविदों में श्रेष्ठ राजकुमार का आकर्षण करती हूँ, आप स्थिर मन से आनन्दपूर्वक यहाँ विराजिये" ऐसा कहकर अतिशीघ्रतापूर्वक अपनी मोहिनी वीणा हाथ में उठाई ॥३५-३६-३७ ॥

कुञ्जान्तरे चन्द्रकला वीणावाद्यं मनोहरम् । मोहनाय परेशस्य पञ्चवाणात्मकं परम् ॥ ३८ ॥
संगृह्य शीघ्रतो देवी रणत्कारं ततोऽकरोत् । दिशां च विदिशां चैव पूरयामास सा ध्वनिः ॥ ३९ ॥
स्वर्गं पातालमेवं च भेदयित्वा जगत्त्रयम् । चेतनाचेतनांश्चैव वीणां शब्दो व्यमोहयात् ॥४० ॥

अपने दूसरे कुञ्ज में जाकर परमात्मा को भी मोहित करने वाला 'पञ्चवाणों का परम जन्मस्थान स्वरूप' मन को हरने वाला 'वीणा का मधुर स्वर' श्रीचन्द्रकलादेवी ने प्रकट किया । वह वीणा-ध्वनि क्षण में दिशा-विदिशाओं में भर गई, स्वर्ग-मर्त्य-पातालादि त्रिभुवन को भेदकर वह वीणाध्वनि चेतन-अचेतन सबको मोहित करने लगी ॥ ३८-३९-४० ॥

स्थावरा जङ्गमाश्चैव मोहमापुश्चतत्क्षणम् । पंचवाणात्मकः शब्दो राजपुत्रस्य कर्णयोः ॥४१॥
प्रविश्य हृदयं भित्वा महदुद्वेगकारकः । मन्मथ मदनोन्मादं क्षोभयामास तन्मनः ॥४२॥
त्यक्त्वा धैर्य्यं वंशिकां तु प्रजगाम तदुन्मुखः । न शशाक तदा स्थातुं राजपुत्रो महाबलः ॥ ४३ ॥

स्थावर-जङ्गम सभी उस ध्वनि को सुनकर मोहग्रस्त हो गये, कामना बढ़ाने वाला वह राग राजकुमार के कानों में भी प्रवेश कर गया । उस राग ने हृदय में जाकर महान उद्वेग पैदा किया, मन को एकाएक मथ डाला, चित्त क्षुभित हो गया, अपने आपको महाबली राजकुमार न सम्हाल सके, धैर्य छूट गया, वंशी गिर पड़ी और जिस ओर से वीणानाद आता था, उसी ओर आतुर होकर चल पड़े ॥४१-४२-४३॥

सर्पमन्त्रविदामन्त्र जलक्षेपाद्यथा द्रुतम् । समायाति महासर्पस्तां दिशां विह्वल स्वयम् ॥ ४४ ॥
तथा स राजपुत्रोऽपि वीणावाद्येन मोहितः । कुञ्जान्निःसृत्यशीघ्रं तु चचाल ध्वनि सम्मुखम् ॥ ४५ ॥
स्वगौरवस्य रक्षार्थं कृत्वा यत्नं प्रयत्नतः । न शशाक समर्थोऽपि राजपुत्रोऽति विह्वलः ॥ ४६ ॥

सर्पमन्त्र को जानने वाले जैसे अभिमन्त्रित जल का छींटा डालते ही जहाँ हो, वहीं से महासर्प को अपने पास बुला लेते हैं, वैसे ही वीणा-ध्वनि विमोहित राजकुमार विह्वल होकर स्वयं ही उस दिशा में दौड़े, जिस दिशा से ध्वनि आ रही थी । जिस कुञ्ज में छिपकर वंशीध्वनि कर प्रियाजू को बुलाना चाहते थे, उस अपने कुञ्ज से बाहर निकले, अपने गौरव-रक्षा के लिये बार-बार मन को समझा-बुझाकर रोकते थे परन्तु यत्न करने पर भी मन को वशीभूत करने में विह्वल बने राजकुमार समर्थ न हुए । ४४-४५-४६॥

कामवेगेन रागात्मा ध्वनिमुद्दिश्य वेगतः । कुंज कुंजान्तारं प्रागाच्छ्रूयते यत्र सा ध्वनिः ॥ ४७॥
तत्र तत्र समागत्य न दृष्ट्वा वाद्य वादिनीम् । आगतः प्रथमे द्वारे महाकुंजस्य पूर्वतः ॥४८ ॥

कामना पीड़ित अनुरक्त चित्त से ध्वनि पहचानते हुए शीघ्रतापूर्वक कुञ्ज-कुञ्ज में घूमने लगे, वहाँ जाने पर भी वीणा बजाने वाली को न देखकर ध्वनि का अनुसन्धान करते-करते महाकुञ्ज के प्रधान द्वार पर पूर्व दिशा में पहुँचे ।४८ ॥

यष्टीहस्ता प्रतिहारी निवार्य प्राहसन्मुदा । तव प्रवेशो नैवात्र विना चन्द्रकलाज्ञया ॥४९॥

वहाँ हाथ में छड़ी लिये पहरा देने वाली सखियों ने राजकुमार को रोककर हँसते हुए कहा कि यहाँ श्रीचन्द्रकलाजी की आज्ञा बिना आपको प्रवेश करने का अधिकार नहीं है ॥ ४९ ॥

तदा तद्वाक्यमाकर्ण्य प्रत्युवाच रसोत्सुकः । मत्प्रियां प्रतियाहि त्वं प्रार्थनां मे निवेदय ॥ ५० ॥
द्वारि तिष्ठति ते प्रेयान् दर्शनोत्सुकमानसः । विरहाक्रान्त चित्तश्च त्वमाज्ञापय यदिप्सितम् ॥ ५१ ॥

तब उसके वचन सुनकर रसोत्सुक रसिक शिरोमणि राजकुमार उस पहरेदार सखी को कहने लगे – "तुम मेरी प्राणप्रियाजू के पास जाकर कहो कि दरवाजे पर आपके प्रियतम आपके दर्शन की अभिलाषा में खड़े हैं, आपके विरह में अत्यन्त व्याकुल हैं, आपकी क्या इच्छा है, आज्ञा दीजिये, हम लोग जाकर उनसे कहें" ॥५०-५१ ॥

राजपुत्र वचः श्रुत्वा सा जगाम त्वरान्विता । यत्रैकान्ते राजपुत्री सा तिष्ठन्तिं सखीवृता ॥ ५२ ॥
सा समागत्य संस्तूय वृतं सर्वं न्यवेदयत् । आज्ञां प्रतीक्षते कान्तोद्वारि तिष्ठति दैन्यभाक् ॥ ५३ ॥

राजपुत्र के ऐसे वचन सुनकर वह पहरेदार सखी एकान्त में अन्य सखियों से घिरी हुई श्रीस्वामिनीजू जहाँ विराजती थीं, वहाँ गयी और प्रणामकर प्रार्थनापूर्वक समस्त वृत्तान्त निवेदन किया कि द्वार पर प्राणनाथ प्रभु दीनवत् विरहातुर खड़े आपके पास आने की आज्ञा चाहते हैं । ५२ - ५३ ॥

इति तस्या वचः श्रुत्वा प्रिया तां प्रत्युवाच ह । गच्छ चन्द्रकलां भेदं नाहं जानामि किंचन ॥ ५४ ॥
तत्र गत्वा प्रतिहारी स्वामिन्योक्तान्युवाच ह । तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा चन्द्रकला ब्रवीदिदम् ॥ ५५ ॥
प्रथमद्वारतः शीघ्रं प्रवेशय प्रियोत्तमम् । तथेत्युत्तवा जगामाथ राजपुत्रमथाब्रवीत् ॥ ५६ ॥
शीघ्रं गच्छ महाराज कुंजेयत्रध्वनिर्भवेत् ।

इस प्रकार उसका वचन सुनकर श्रीकिशोरीजी ने कहा कि मैं इस भेद को कुछ नहीं जानती, तुम शीघ्र ही चन्द्रकला को जाकर सब बातें कहो । पहरेदार सखी ने वहाँ जाकर स्वामिनीजू की आज्ञा और सब वृत्तान्त कह सुनाया; उसका वचन सुनकर श्रीचन्द्रकलाजी ने यह उत्तर दिया – "हे सखि ! जाओ । प्रियतमजू को शीघ्र ही प्रथम द्वार के भीतर आने दो ।" तथास्तु कह कर वह सखि द्वार पर आयी और राजकुमार से बोली – "हे प्राणनाथ ! जहाँ से यह मधुर ध्वनि आ रही है, उसी कुञ्ज में जाने का यह मार्ग है, आप सुखपूर्वक पधारिये" ॥ ५४-५५-५६ ॥

प्रविवेश तदा तत्र द्वितीय द्वार सन्निधौ ॥ ५७ ॥ तस्मिन्द्वारे प्रतिहारी निवार्यपुनरब्रवीत् ।
आज्ञां विना प्रियायास्तु मा गच्छाभ्यन्तरेप्रभो ॥ ५८ ॥

इस प्रकार आज्ञा मिल जाने पर राजकुमार भीतर गए, जब द्वितीय द्वार पर पहुँच गये तब वहाँ की द्वारपालिका ने आपको रोक लिया और कहा कि "हे प्रभो ! जबतक श्रीप्रियाजू की आज्ञा सूचना नहीं मिल जाती, तब तक आप भीतर प्रवेश मत करिये" ॥५७-५८ ।

आज्ञां प्रियायाः प्राप्तोऽस्मि द्वार पालिनि सुव्रते । प्रिया दर्शन कामोऽहं तत्र गच्छामि सत्वरम् ॥ ५९ ॥

उसके ऐसे वचन सुनकर राजकुमार जू ने कहा – "हे द्वारपालिनी ! प्रियाजू की प्रवेशाज्ञा प्राप्त कर मैं यहाँ आया हूँ । हे सुव्रते ! मैं प्रियाजू के दर्शनार्थ ही शीघ्र उनके पास जा रहा हूँ।" ॥ ५९ ॥

प्रतिहार्य्युवाच

अस्मामि रक्षिता द्वारान्न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि । तस्मादन्यत्र गच्छासु प्रियां द्रष्टुं यदीच्छसि ॥ ६० ॥

प्रियतम के वचन सुनकर द्वारपालिका बोली – "हे नाथ ! हमलोगों द्वारा सुरक्षित इस द्वार से तो आप बिना आज्ञा प्रवेश नहीं कर सकोगे; इसलिये यदि शीघ्र ही प्रियाजू के दर्शन की इच्छा हो तो जाइये किसी अन्य द्वार से प्रवेश कर जाइये ।" ॥ ६० ॥

स तां प्रति हस्याशु प्रोवाच पुरुषोत्तमः । ममाप्यागमनं ब्रूहि प्रियायै सत्त्वरं प्रिये ॥ ६१ ॥

उसका वचन सुनकर हँसते हुए पुरुषोत्तम प्रभु ने कहा – "जब ऐसी बात है तो जाओ शीघ्र ही मेरे आगमन की सूचना प्रियाजू को दे आओ ।" ॥ ६१ ॥

राजपुत्रोक्तमाकर्ण्य तत्रागत्य तथा करोत् । राजपुत्री तु तां प्राह गच्छ चन्द्रकलां प्रति ॥ ६२ ॥
सा करिष्यति यत्कार्यं तन्मे प्रियतरं भवेत् । सा समागत्य तद्वृत्तं श्रावयित्वा सखीं प्रति ॥ ६३ ॥
तदुक्तं पूर्ववत्कृत्वा प्रावेशयत्तमादरात् । एवमेवं प्रतिद्वारे षष्ठकक्षागते सति ॥ ६४ ॥
श्रीराजपुत्र का वचन सुनकर द्वारपालिका ने वैसा ही किया । श्रीराजकुमारीजू से सब वृत्तान्त कह सुनाया । उनकी आज्ञा हुई कि चन्द्रकलाजू जो करेंगी, वही मुझे अति प्रिय होगा । तब वह सखि चन्द्रकलाजी के पास गयी और वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया । श्रीचन्द्रकलाजी ने कहा कि पूर्ववत् परमादर सहित प्राणनाथ को आने दो । इसी प्रकार तीसरे-चौथे-पाँचवें-छठे द्वार पर आज्ञा प्राप्त करने को आपको ठहरना पड़ा, जब आगे आपने प्रवेश किया तब ॥ ६२-६३-६४ ॥
तदा चन्द्रकला देवी श्लाघिता वीणविद्यया । प्रियाया मान रक्षार्थं कृत्वा कौतुकमद्भुतम् ॥ ६५ ॥
भ्रामणार्थं प्रियस्यैव चकार ध्वनि मुत्तमाम् । आगच्छागच्छ त्वं कान्त ह्यत्र तिष्ठाम्यहं प्रभो ॥६६॥
श्रीचन्द्रकलाजी ने प्रियाजू के सम्मान की रक्षा के लिये वीणा द्वारा चित्र-विचित्र ध्वनि निकालना प्रारम्भ किया, प्रियतमजू को थोड़ा घुमाने-फिराने की इच्छा से प्रियाजू की कोमल कण्ठध्वनि के समान ही – "हे प्रियतम ! आइये पधारिये ! हे कान्त !! मैं यहाँ बैठी हूँ !!!" इस प्रकार वीणा का स्वर निकालने लगीं ॥ ६५- ६६ ॥
प्रियायाः सदृशं शब्दं वीणामध्ये पुनः पुनः । स्थानान्तराद्ध्वनिं प्राप्य तत्र गच्छति सप्रियः ॥६७ ॥
तावद्वीणाध्वनिं सा तु ह्यन्यस्थानाद् करोति च । एवं परिभ्रमन् कुञ्जे बहुकालं पुनः पुनः ॥ ६८॥
प्रियां न प्राप्य कुत्रापि रुरोद भृश दुःखितः । यत्र यत्रध्वनिस्तस्या स्ततत्र भ्रमाद्भ्रमन् ॥६९॥
प्रियाजू के समान ही वीणा से पुनः-पुनः शब्द सुनकर प्रियतमजू उस ओर जाते हैं, तब तक वैसा ही शब्द दूसरी ओर से आता है, जब आप घूमकर वहाँ पहुँचते हैं, तब तीसरी दिशा से वैसा ही शब्द सुन पड़ता है । इस प्रकार उस ध्वनि का अनुगमन करते आप बड़ी देर तक चारों ओर घूमे परन्तु कहीं प्रियाजू का दर्शन प्राप्त न हुआ, तब उनके मिलन की आतुरता से व्याकुल होकर ध्वनि के पीछे भ्रमवश भ्रमण करते-करते थक गये और रुदन करने लगे ॥६७- ६८- ६९ ॥
न प्रियां पश्यति यदा तदा शोकाकुलोऽभवत् । दर्शनं देहि मे शीघ्रं हा हा श्रीप्राणवल्लभे ॥७० ॥
अति कोमल चित्तं ते कुतः काठिन्यमागतम् । किंवा श्रीफल संसर्गाद् धृतकाठिन्यवत् प्रिये ॥ ७१ ॥
निर्दयत्वं समायातं कथं मां प्रति वल्लभे । अपराधान् क्षमस्वाद्य देहि मे दर्शनं प्रिये ॥ ७२ ॥
किं करोमि क्व तिष्ठामि त्वां विना जीवनं न मे । क्व वसामि क्व गच्छामि कुत्रमे प्राणवल्लभा ॥७३॥
इति चिन्ता समाविष्टो राजपुत्रोऽति विह्वलः । पुनः पुनर्मनस्तापं कुरुते दिनचेतसः ॥ ७४ ॥
जब प्रियाजू की कण्ठ-ध्वनि के समान ध्वनि सुनकर वहाँ जाने पर भी उनके दर्शन नहीं होते हैं, तब शोक से व्याकुल होकर प्रियतमजू – "हा कान्ते ! हा प्राणवल्लभे !! आप शीघ्र ही दर्शन दीजिये, आपका हृदय तो परम कोमल है, न जाने आज इतना कठिन (कठोर) क्यों हो रहा है ? श्रीफल के समान कठिन (कठोर) उरोजों के धारण करने से तो क्या कुछ उसकी कठिनता (कठोरता) का दोष आपके हृदय में नहीं आ गया है ? हे प्राणवल्लभे ! आज निर्दयता कहाँ से आ गई है ? आप मेरे अपराधों को क्षमा कर हे प्रिये ! अपना दर्शन दीजिये ! मैं क्या करूँ ! कहाँ रहूँ !! मेरा जीवन तो आपके बिना नहीं रह सकता, मैं कहाँ जाऊँ ! मेरी प्राणवल्लभ प्रियतमा ! तुम कहाँ हो ?" इस प्रकार की चिन्ता में विलाप करते हुए श्रीराजकुमारजू अत्यन्त विकल हो गये, दीन चित्त से बार-बार मानसिक संताप का कष्ट अनुभव करने लगे ॥७०-७१-७२-७३-७४ ॥

मान की प्रेरणा

ततश्चन्द्रकला दक्षा प्रियायाः सन्निधिं गता । उवाच प्रणतिं कृत्वा ह्यत्र चायाति ते प्रियः॥७५॥
राजपुत्री ! क्षणं प्रेष्ठे धत्स्व मानं सुखावहम् । यथा नैवं पुनः कुर्यात्तथा त्वं कर्तुमर्हसिं ॥ ७६ ॥

यदा ते सम्मुखं गच्छेद्राजपुत्रो मनोहरः । न चैनं प्रति वीक्षस्य न वदस्व कथञ्चन ॥ ७७ ॥

तब चन्द्रकलाजी प्रियतम की दशा देखकर प्रियाजू के पास जाकर प्रणाम कर विनयपूर्वक बोलीं – "हे राजपुत्री ! आपके प्रियतमजू अब यहाँ पधारते हैं, आप एक बात हमारी इस समय स्वीकार करिये । जब श्रीराजकुमार आप से मिलें, तब आप थोड़ी देर मौन ग्रहणकर बैठ जाना, न उनके सामने ताकना और न उनसे कुछ बोलना । ऐसा करने से श्रीराजनन्दनजू पुनः इस प्रकार से आपको दुबारा कष्ट न पहुँचावेंगे, इसलिये कहती हूँ" ॥ ७५-७६-७७ ॥

इति तद्वचनं श्रुत्वा मैथिली मृदुमानसा । प्रत्युवाच ततः प्रीत्या प्रियां प्रणयिनिं सखीम् ॥ ७८ ॥
कथं चन्द्रकले दृष्ट्वा कान्तं कमललोचनम् । सुन्दराङ्गं स्वयं प्राप्तं मानं स्थास्यति मे हृदि ॥ ७९ ॥
अहं तु मृदुभावत्वात् प्रियं दृश्ट्वैव सत्वरम् । समुत्थाय समालिङ्ग्य हर्षयिष्यामि तंद्रुतम् ॥ ८० ॥
मानं कर्तुं न शक्तिर्मे नैष्ठुर्य्यं नास्ति मे हृदि । कान्तं खेदयितुं नाहमुत्सहे च कदाचन ॥ ८१ ॥

इस प्रकार उनका वचन सुनकर कोमलचित्त श्रीमैथिलीजू प्रेमपूर्वक प्रियसखि से बोलीं – "हे चन्द्रकले ! आपका कहना तो ठीक है परन्तु कमललोचन प्राणप्रियतम परमसुन्दर प्रभु जब स्वयं ही अपनी इच्छा से बिना बुलाये आये हैं, तब उनको देखकर मेरे हृदय में मान कैसे ठहर सकता है ? मैं तो अति मृदुल स्वभाव होने से प्रियतम को देखकर तुरन्त आनन्द के परबस खड़ी हो जाऊँगी और प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करूँगी, मान करके प्रियतम के हृदय को कष्ट पहुँचाने की निष्ठुरता मैं कभी सहन न कर सकूँगी " ॥ ७८-७९-८०-८१ ॥

श्रीचन्द्रकलोवाच

सत्यं देवि स्वभावं ते कोमलं वेद्म्यहं सदा । धर्मज्ञे धर्मनिरते क्षमासारे शुचिव्रते ॥ ८२ ॥
तथापि मोहितं वाक्यं कुरुष्वाद्य सुखायनः । प्रसादयामि ते प्रीत्या नाहं त्वामहितं बुर्वे ॥ ८३ ॥
मिष्टान्नं भक्षतोऽम्लादि यथा रुचि विवर्धकम् । नायकानां तथा मानाद्रस वृद्धिर्भवेद्ध्रुवम् ॥ ८४ ॥

श्रीचन्द्रकलाजी ने कहा – "हे देवि ! मैं जानती हूँ कि आपका परम मृदुल स्वभाव है । सदा धर्म परायणा-धर्मज्ञा-क्षमा सागरी तथा पवित्र व्रतवाली हो तथापि आप प्रियतमजू को मोहित करने के लिए कुछ ऐसे ही वाक्य कहिये, जिससे मान प्रकट हो, मैं आपको प्रार्थना करके कहती हूँ कि इससे आपका कोई अहित न होगा । मिष्ठान्न खाते-खाते जब मन ऊब जाता है, तब तीखे खट्टे पदार्थ रुचि बढ़ाने के लिये पाये जाते हैं । वैसे ही नायकों में रसवृद्धि करने के लिये मान करना भी उचित ही है, मान करने से निश्चय ही प्रेमरस की वृद्धि होती है । आप किसी प्रकार का भय न करिये ॥ ८२-८३-८४॥

तस्मान्मानं प्रशंसन्ति कवयः क्रान्त दर्शिनः । संयोग विप्रलम्भाभ्यामुभाभ्यामुत्तमोरसः ॥ ८५ ॥
श्रृङ्गारो द्विविधः प्रोक्तो विद्वद्भी रसवेदिभिः । विप्रलम्भः परोभागः संयोग सुखवर्धनात् ॥ ८६ ॥
लोकेऽपि गौरवार्थं या मानं कुर्वन्ति योषितः । ताः पतिं स्ववशीकृत्य मोदन्ते नित्यशो भृशम् ॥ ८७ ॥

कविजन-तत्वदर्शी इसीलिये 'मान' की प्रशंसा करते हैं । 'संयोग और विप्रलम्भ' दोनों प्रकार से मानरस उत्तमोत्तम है । रसतत्वविद् रसिक विद्वान श्रृंगार दो प्रकार का कहते हैं - एक संयोग और दूसरा विप्रलम्भ, संयोग का सुख और वियोग का दुःख - दोनों को सरस बनाने वाला 'मान का रस' है । लोक में भी चतुर नायिकायें अपने गौरव की रक्षा के लिए कभी-कभी उचित मान करती हैं, वे अपने प्रियतम को वशीभूत करके नित्य नया आनन्द भोगती हैं ॥ ८५-८६-८७ ॥

मानहीना तु या नारी युक्ता सर्व गुणैरपि । न पत्या सुखमेधेत तिरस्कारं ब्रजेदिह ॥ ८८ ॥
ततो गौरव रक्षार्थं मानं कार्यं सुखोदयम् । मानात् प्रीतिर्विवर्धेत दम्पत्योर्हृदि निश्चला ॥ ८९ ॥

समस्त गुणों से सम्पन्न नारी भी यदि अपने गौरव की रक्षा के लिए मान नहीं करती हैं तो पति के द्वारा तिरस्कार की प्राप्ति होती है । जन्म पर्यन्त एकाङ्की (एकांगी) प्रेम निबाहना पड़ता है । इसलिए गौरव-रक्षा के लिए और प्रेमसुख वृद्धि के लिए तथा प्रियतम के हृदय में अपने प्रति छिपे हुए प्रेम को प्रकट करने के लिए परीक्षण हेतु भी कभी-कभी मान करना नारियों का अलंकार है । मान करने से एक-दूसरे के गुण-दोष एक-दूसरे के प्रति व्यक्त होते हैं और दोष निकालकर गुण वृद्धि का

विचार प्रेम जोड़ने से दृढ होता है । मान से दम्पत्ति में परस्पर अविचल प्रीति बढ़ती है, इसीलिए आप मान को उपादेय समझें, हेय न जानकर मान अवश्य करें ॥ ८८-८९ ॥

इत्युक्ता मैथिली प्राह न पतिर्मे तथा विधः । स्वयं तु मदधीनोऽसौ मत्प्रियः प्राणवल्लभः ॥ ९० ॥

तस्मिन्मानं न चेष्टं मे मार्दवान्मृदुलात्मनि । तथापि ते प्रियं कार्यं करिष्यामि समाहिता ॥ ९१ ॥

यह सुनकर श्रीमिथिलराजकुमारी बोलीं – "हे प्रिये ! मेरे प्राणपतिजू उस प्रकार के नहीं हैं, वे तो स्वयं ही प्रेमातिशय के कारण मेरे वशीभूत रहते हैं । मेरे प्रियतम मेरे प्राणवल्लभ हैं । मैं अत्यन्त मृदुल स्वभाव होने के कारण उनसे मान कैसे करूँगी ? परन्तु आज तुम्हारा प्रिय करने के लिए चित्त को थोड़ी देर के लिए कठिन करके मानलीला करूँगी ।" ॥९०-९१॥

श्रीचन्द्रकलोवाच

भो-भो प्रिये पुनस्त्येकं मे वाक्यं शृणु सादरम् । प्रियोपरि प्रसन्नार्थं त्वामहं प्रार्थये यदा ॥ ९२ ॥

तदा त्वं कान्त मालिङ्गय कुचाग्रेण प्रपीडय । वियोगं जन्यं तदुःखं तद्विनाशाय धीमतः ॥ ९३ ॥

प्रियसार्द्धं तदावार्तां कुरुष्व श्रीमहेश्वरि । यदाहं त्वां सुनेत्राभ्यांसंप्रचोदय मैथिली ॥ ९४ ॥

श्रीप्रियाजू का वाक्य सुनकर श्रीचन्द्रकलाजू पुनः बोलीं – "हे स्वामिनीजू ! मेरा एक वचन और भी आप आदरपूर्वक श्रवण करें । जब मैं प्रसन्न होकर प्रियतमजू से मिलने की प्रार्थना करूँ, तब आप प्रियतम कान्त का आलिङ्गन करते समय अपने कुचों के अग्रभाग से उनके वक्षःस्थल को दबाइयेगा, ऐसा करने से श्रीराजकुमार के हृदय में आपके वियोग का जो दुःख घुसा हुआ है निकल जायेगा, वे चतुर राजपुत्र आप पर बड़े प्रसन्न होंगे ॥ ९२- ९३ ॥ और हे मैथिली ! जब दोनों नेत्रों के इशारे से मैं प्रेरणा करूँ, तब आप प्राण प्रियतमजू से संभाषण करिये ॥ ९४ ॥"

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्री विचक्षणा । तामुवाच सखीं प्रीत्या प्रियवादिनि मे श्रृणु ॥ ९४ ॥

तव वाक्यं करिष्यामि चेति मे हृदि निश्चितम् । धरिष्यामि कथं धैर्य्यं पतिं दृष्ट्वा तु विह्वलम् ॥ ९५ ॥

तथापि त्वद्धितार्थाय करिष्यामि ब्रवीषियत् ।

श्रीचन्द्रकला का वचन सुनकर परमचतुर राजकुमारीजू प्रियसखी के प्रति प्रेमपूर्वक बोलीं - "हे प्रियभाषिणी ! प्रेमयुक्त मेरा वचन सुनो । मैं तुम्हारा वचन पालन करूँगी परन्तु प्रेमविह्वल प्राणपति को देखकर मैं कैसे धैर्य धारण करूँगी, यह बड़ा सन्देह मन में लगा हुआ है, तो भी तुम्हारे वचन की रक्षा के लिए मैं आज मान करूँगी ॥ ९४-९५ ॥"

किञ्चित्कालं मया धैर्य्यं धार्यतेतु कथञ्चन ॥ ९६ ॥ यदाऽगमिष्यति प्रेयो मत्समीपेऽति विह्वलः ।

तदा त्वया यद्वक्तव्यं नाशु वक्ष्यसि तद्यदि ॥ ९७ ॥ पुनर्नमे ततः शक्यं धैर्यं धारयितुं शुभे ।

अतो दोषो न दातव्यः पुनश्च मे हितैषिणि ॥९८॥ गच्छ यत्नं कुरु क्षिप्रं यथाऽगच्छेत् प्रियोऽन्ति मे ।

परन्तु हे सखि ! थोड़ी देर तो मैं किसी प्रकार धैर्य धारण करूँगी, परन्तु जब प्रेमविह्वल प्रियतम मेरे पास आवेंगे, उस समय उनसे तुमको जो कुछ कहना-सुनना हो, शीघ्र ही कह-सुन लेना, यदि शीघ्रता न करोगी तो मैं पुनः अधिक विलम्ब तक धैर्य धारण न कर सकूँगी । इसलिए देर करके फिर हमको दोष न लगाना, तुम मेरी परम हितैषिणी हो, इसलिये अपना स्वभाव तुम्हारे आगे प्रकट कर देती हूँ । यह न हो कि मानलीला अधूरी ही रह जाय और गौरव बढ़ाने के बदले नाटक करके हँसी कराना पड़े । जाओ, अब जल्दी करो, जिस प्रकार प्रियतम शीघ्र ही मेरे पास आवें, वैसा उपाय करिये ॥" ९६-९७-९८ ॥

इत्युक्त्वा तां प्रणम्याथ कौतुकाविष्ट मानसा ॥ ९९ ॥ आजगाम पुनस्तत्र यत्र वीणा प्रवादनैः ।

भ्रामयन्ति स्थिता पूर्वं राजपुत्रं विचक्षणम् ॥ १०० ॥

ऐसा वचन श्रवणकर श्रीस्वामिनीजू के चरणों में प्रणामकर श्रीचन्द्रकलाजी-कौतुक केलिविलास में प्रसन्नचित्त वाली वहीं आ गयीं, जहाँ बैठकर एकान्त कुञ्ज में वीणा बजाकर श्रीराजकुमारजू के चित्त में भ्रम डालकर उनको घुमा-फिरा रही थीं ॥९९- १००॥

श्रीपार्वत्युवाच

सर्वकामकलाभिज्ञो रति शास्त्रेषु पण्डितः । वीणा वाणीं न संवेद त्विति मे संशयः प्रभो ॥ १०१ ॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं - "हे नाथ ! सभी काम कला में परम चतुर कोकशास्त्र के महापण्डित श्रीराजकुमार वीणा की वाणी को क्यों न जान सके, इस बात का मेरे हृदय में महान संशय है । कृपा करके आप निवारण करिये ॥" १०१ ॥

श्रीशिव उवाच

सा वै चन्द्रकला तस्य काचिच्छक्ति महाद्भुता । स्वया शक्तया विमुग्धोऽसौ ज्ञानमावृत्य लीलया ॥१०२ ॥
स तु राजकुमारो वै वीणावाद्येन मोहितः । विस्मृत्य निखिलां विद्यां विभ्रमे समुपागतः ॥ १०३ ॥

श्रीशंकरजी ने उत्तर दिया कि हे पार्वती ! श्रीचन्द्रकलाजी उन्हीं (श्रीरामजी) की कोई एक महान् अद्भुत महाशक्ति हैं, वे अपनी ही शक्ति से स्वयं अपने ही लीलासुख को बढ़ाने के लिये ज्ञान को छिपाकर विमुग्ध बन गये । राजकुमार श्रीरामजू उस वीणा वाणी से विमोहित होकर अपनी समस्त विद्याओं को भूल गये और भ्रम में पड़कर कौतुक करने लगे ॥१०२-१०३॥

अत्याश्चर्य्यं मनोहारी प्रियाया सदृशोध्वनिः । प्रियावाणीवीणयोश्च न भेदो लक्ष्यते क्वचित् ॥ १०४ ॥
अहं तिष्ठामि चाप्यत्र त्वं कुत्र भ्रमसे प्रभो । इति वीणारवं श्रुत्वा तत्र गत्वा निरीक्ष्यताम् ॥१०५ ॥
अस्मात्स्थानात् प्रियायास्तु वाणीं प्राप्तोऽस्मिन प्रियाम् । ब्रूहि चन्द्रकले सत्यं क्व गता सा मम प्रिया ॥१०६॥

अत्यन्त आश्चर्यकारक मन को हरण करने वाली प्रिया की वाणी के समान ही ध्वनि आती है, प्रिया की वाणी और वीणा के स्वर में कुछ भी तारतम्य प्रतीत नहीं होता है, ऐसा विचार राजकुमार करते थे, इतने में ही एक दिशा से वाणी सुनाई पड़ी – "मैं यहाँ पर हूँ, हे प्रभो ! आप उधर कहाँ भटकने जा रहे हो !" - यह सुनकर प्रियतमजू उसी ओर चले, वहाँ जाकर देखा परन्तु प्रियाजू को न देखकर आप चन्द्रकलाजू से बोले – "हे चन्द्रकले ! तुम सत्य-सत्य कहो, मेरी प्रियाजू की वाणी तो इसी स्थल से आती है परन्तु क्या कारण है कि मैं उनका दर्शन नहीं कर सकता हूँ, मेरी प्राणप्रियाजू कहाँ चली गयी हैं, सत्य बात बताइये ॥"१०४-१०५-१०६ ॥

श्रीचन्द्रकलोवाच

नाहं प्रियां ते जानामि कुत्र तिष्ठति सुव्रत । मोहिनी वंशिका शब्दैराह्वयस्य स्ववल्लभाम् ॥१०७॥

श्रीचन्द्रकला बोलीं – "हे देव ! मैं आपकी प्राणप्रिया को नहीं जानती कि कहाँ पर हैं ? आप तो बड़े जादूगर (नायक) हैं, वंशी की मोहिनी ध्वनि करके अपनी प्राणवल्लभा को आकर्षित कर लीजिये ॥"१०७ ॥

श्रीराजकुमार-उवाच

मायया ते त्विदं सर्वं ममाति भ्रम दायिनि । मदनाग्नि प्रदग्धोऽस्मि तच्छान्तिं कर्तुमर्हसि ॥१०८॥
त्वं मे प्राणप्रिया साक्षाद्वल्लभायाश्च वल्लभा । ममोपरि कृपां कृत्वा प्रदर्शय मम प्रियाम् ॥ १०९ ॥
शीघ्रं प्राणप्रियापार्श्वे मां नयस्वाशु वल्लभे । अनृणोऽस्मि तव प्राणदातृ चन्द्रकले प्रिये ॥११०॥

यह सुनकर श्रीराजकुमार रामजी बोले - "हे चन्द्रकले ! यह सब मेरे मन को भ्रम में डालने वाली तुम्हारी अजेय माया ही है, मैं अब कामाग्नि में जल रहा हूँ, उसकी शान्ति करने में तुम्हीं एक समर्थ हो । तुम मेरी सर्वाधिक प्राणप्रिय सखि हो और मेरी प्राणवल्लभा को भी प्राणोपम प्यारी हो, मुझ पर कृपा करके मेरी प्राणप्रियाजू का दर्शन करा दीजिये ।
हे प्राणवल्लभे ! शीघ्र ही तुम मेरी प्राणप्रियाजू के पास मुझे ले चलो, मेरी प्राणदाता इस समय तुम बनो, मैं सत्य कहता हूँ, तुम्हारे इस उपकार से मैं उऋण नहीं हो सकता हूँ ।" ॥१०८-१०९-११० ॥

श्रीजानकीजी का मान व मिलन

श्रीचन्द्रकलोवाच - त्वया कृतापराधेन प्रिया कोप समाकुला । भविष्यति न सा तुष्टा तव यत्नशतैरपि ॥ १११ ॥
तथाप्यहं प्राणनाथ प्रिया सम्मेल हेतवे । यत्नं बहु विधास्यामि चिंतां मा कुरु राघव ॥११२ ॥
ध्रुवं मे वचनं श्रुत्वा त्वया सार्द्ध हि मैथिली । हृदा सा गाढमालिङ्ग्य प्रापयिष्यत्यलं सुखम् ॥ ११३ ॥
अद्यारभ्य प्राणनाथ मैवं कुरु पुनस्त्विदम् । अपराधं प्राणहरमस्माकं विरहप्रदम् ॥११४॥

क्षमापयस्व प्रियया संप्रीणाय प्रयत्नतः । पुनरेवं यथा नैव भ वेत्कष्टतां परम् ॥११५॥

श्रीचन्द्रकलाजी श्रीप्राणनाथजू का वचन सुनकर बोलीं कि "हे नाथ ! आपने महान् अपराध किया है । इसलिये प्रियाजू कोप में भरकर रूठ बैठी हैं, आप सैंकड़ों उपाय करिये तो भी प्रसन्न न होंगी । तो भी मैं आपको और प्रियाजूको मिलाने के लिये अनेकों प्रकार के यत्न करूँगी । हे श्रीराघवेन्द्रजू ! आप कोई चिन्ता न करें । आप यह निश्चय जानिये कि मेरी बात मानकर श्रीमैथिलीजू हृदय का गाढ़ आलिङ्गन देकर आपको परम सुख प्रदान करेंगी । परन्तु आज के दिन से फिर कभी हे प्राणनाथ ! इस प्रकार हम सबको विरह का दुःख देकर प्राण हरण करने वाला भयंकर अपराध नहीं करना । चलिये श्रीप्राणप्रियाजू के निकट जाकर उन्हें प्रसन्न करिये और अपराध क्षमा कराइये, जिससे पुनः ऐसा जीवन विनाशक महाकष्ट आपको अथवा उनको कभी भोगना नहीं पड़े ॥ १११-११२-११३-११४-११५ ॥

युवयोस्तु वियोगो नोऽसह्यो वै भवति ध्रुवम् । इत्युक्ता पाणिना पाणिं सा प्रगृह्य प्रमोदिता ॥११६॥

यत्र राजकुमारी सा तूष्णीमांस्ते क्रुधातुरा । तत्राजगाम सा तूर्णं साक्षाच्चन्द्रकला सखी ॥११७ ॥

दृष्ट्वा प्राणप्रियं कान्तं सा चोत्थाय महोत्सुका । प्रस्थाप्य शय्यां धर्मेण प्रोवाच कुटिलेक्षणा ॥ ११८ ॥

आप दोनों का वियोग हम सब सहन नहीं कर सकती हैं । इसलिये 'अब ऐसा न करेंगे' इस प्रकार प्रतिज्ञा कराकर प्रियतमजू का हाथ अपने हाथ से पकड़कर चन्द्रकलाजू प्रसन्न होकर उनको वहाँ ले गयीं, जहाँ क्रोध में भरी श्रीराजकुमारी जानकीजू मान करके बैठी थीं । साक्षात् चन्द्रकला सखी को अपने प्राणनाथ को साथ आते देखकर श्रीकिशोरीजू प्रेमावेश में पर्यङ्क से उठकर धर्मतत्वज्ञा श्रीजी ने प्रियतम को शय्या पर बैठाया और श्रीचन्द्रकलाजू की वार्ता स्मरणकर क्रोधित स्वर में बोलीं ॥ ११६-११७-११८॥

निर्दयत्वं श्यामलत्वात् सदा तिष्ठति मानसे । परपीडां न जानासि मां पीडयसि भूरिशः ॥११९ ॥

एवमाभास्य सा देवी तूष्णीं पुनरुपागता । अधोमुखी प्रियाभूत्वा पदोदृष्टि विधाय च ॥ १२० ॥

"हे श्यामसुन्दर ! आप बाहर तो श्याम हैं ही परन्तु भीतर भी वैसे ही काले कुटिल हो, अतः निर्दयता करना सीख गये हो, दूसरे की मनोव्यथा का कुछ भी अनुभव आपको नहीं होता है, इसलिये बार-बार ऐसी भयंकर पीड़ा देते हो ।" इस प्रकार कहकर देवी मैथिलीजू चुप हो गईं, कुछ न बोल सकीं, नीची आँखें करके अपने चरणों की ओर देखने लगीं, मुखमण्डल प्रणय-क्रोध और प्रेमावेश से विचित्र भाव भंगीवाला हो गया ॥११९-१२०॥

तां दृष्ट्वा राजपुत्रस्तु हर्ष शोकसमाकुलः । गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रोवाचमुदमावहन् ॥ १२१ ॥

अयेप्रिये क्षमस्वाद्य कृतं यदुस्तरं महत् । आगस्त्वं मे क्षमारूपे कारुण्यामृत विग्रहे ॥ १२२ ॥

अथवा देहि मे दण्डं यत्ते मनसि वर्तते । यद्वा कुचाग्राङ्कुशेन ताडनं कुरु मे प्रिये ॥ १२३ ॥

शरणं त्वां प्रपन्नोस्मि शरणागतवत्सले । गृहीत्वा मां कराग्रेण वक्षसा सं प्रपीडय ॥ १२४ ॥

अधरामृत दानेन रदनिस्पेषणैरपि । हरतापं विरहजं दुःसहं मदनेरितम् ॥१२५॥

श्रीस्वामिनीजू की रोष भरी वाणी सुनकर, भीतर का प्रेम देखकर हर्षित और रोष देखकर शोकाकुल बने हुए श्रीराजकुमार रामजी उनके प्रति बड़े ही विनीत होकर मधुर वाणी बोले, अपने करकमल में प्रियाजू का कोमल कर ग्रहण कर हृदय में आनन्द बढ़ाते हुए कहने लगे – "हे प्रियतमे ! आज मेरा यह अपराध आप क्षमा करें, मैंने जो महादुःख आपको दिया, यह मेरा दोष आप क्षमास्वरूप होने से क्षमा कर दें । हे कारुण्यामृत सागरी ! आपको दण्ड देना ही अभीष्ट हो तो जो आपके मन में हो, वैसा दण्ड प्रदान करें, चाहे बाहुपाश में बाँध लेवें, चाहे कठिन कुचों के नुकीले अग्रभागरूप अंकुश की ताड़ना करें, चाहे हाथ पकड़कर हृदय में दबा लें, चाहें अधरामृत का दान देकर दन्ताग्रों की पीड़ा प्रदान करें, आपकी जैसी इच्छा हो, वैसा करें । मैं सर्वदा आपकी शरण में हूँ, आप शरणागतवत्सला प्रसिद्ध ही हैं, जिस प्रकार आपके वियोग का ताप जो मदन-मारुत की झकोर से और भी तीव्र हो गया है, उसको हरणकर संयोगसुख प्राप्त हो, वही उपाय करने की कृपा करिये ॥ १२१-१२२-१२३-१२४-१२५ ॥

मैथिली तु प्रियस्याथ विह्वलस्य विशेषतः । श्रुत्वा करुणया पूर्णं वाक्य मुत्कण्ठिता भृशम् ॥ १२६ ॥
कोमलाङ्गी राजपुत्री पतिदुःखेन दुःखिता । प्रिय स्नेहेन हृत्पूर्णा सखीवाक्येन बन्धिता ॥ १२७ ॥
पुरा वचो रक्षणार्थं यच्च सख्या सहाभवत् । प्रियानेत्रानुसारेण चोदितां तां पुनः पुनः ॥ १२८ ॥
ज्ञात्वा तस्याश्च तात्पर्यं प्रियाया भानुनन्दिनी । किञ्चित्कालं तु सा देवी नाब्रविद्वचनं क्वचित् ॥ १२९ ॥

श्रीमिथिलेशकुमारी - महाकरुणापूर्णा परमोत्कण्ठिता प्रेमविह्वल प्राणनाथ के इस प्रकार दीनवचन सुनकर प्रियतम के स्नेह से पूर्ण हृदय हो गई, कोमालङ्गी राजकुमारी पति के दुःख को न सह सकीं, परन्तु एक तरफ प्रियतम का स्नेह-बन्धन और दूसरी ओर प्रियसखी का वचन-बन्धन दुविधा में डाल रहा था । पहले जो चन्द्रकला के साथ प्रतिज्ञा हुई थी, उसका स्मरण कर तथा प्रियतम को मिलन की हृदय में पूर्ण अधीरता देखकर बार-बार प्रियसखी की ओर निहारती हैं और प्रियतम को आलिङ्गन देने की अनुमति शीघ्र ही मिल जाय, इसलिये सचेत करती हैं । श्रीप्रियाजू का हार्दिक भाव जानने में परम निपुण श्रीचन्द्रभानुकुमारीजी आशय जानते हुए भी प्रेम गौरव की रक्षा के लिये थोड़ी देर तक कुछ न बोलीं ॥ १२६-१२७-१२८-१२९ ॥

प्रिय सङ्गमलाभाय यावदुत्थातुमैच्छत । तावच्चन्द्रकला दक्षा रक्षार्थं निज गौरवम् ॥ १३० ॥
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं विदेह नृपनन्दिनिम् । देवि ! पश्य प्रियं प्राप्तं बेषमानं च त्वद्भयात् ॥ १३१ ॥
याचन्तं प्राञ्जलिं दीनं द्रष्टुं ते मुखपङ्कजम् । अपराधं क्षमस्वाद्य पुनर्नैवं करिष्यति ॥ १३२ ॥

परन्तु श्रीचन्द्रकला ने जब देखा कि अब प्रेमातिशय के कारण श्रीकिशोरीजी प्राणनाथ को आलिङ्गन देने के लिये आगे बढ़ना चाहती ही हैं, तब उनके सम्मान की रक्षा के लिये उपयुक्त समय जानकर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोलीं – "हे श्रीविदेहराज नन्दिनीजू ! देखिये, आपके भय से भयभीत अपराधी की भाँति काँपते हुए प्रियतमजू आपके निकट पधारे हैं, आपके मृदुल हास्यपूर्ण मुखकमल का दर्शन करने की याचना करते हैं, आप अपना क्रोध निवारण कर दीजिये । इनका अपराध क्षमा करिये, अब पुनः ये कभी ऐसा अपराध न करेंगे, आप अपना रोष शान्त कर इन्हें प्रेमसुख प्रदान करिये" ॥ १३०-१३१-१३२ ॥

तस्यास्तद्वया हृतं वाक्यं मनोऽभिलषितं प्रियम् । श्रुत्वोत्थाय समालिङ्गय कान्तं प्रोवाच सस्मिता ॥ १३३ ॥
पुनर्नैवं विधेयं ते यादृशं कृतवानसि । वंशिकाध्वनिना प्रेष्ठ मां विजेतुं त्वमिच्छसि ॥ १३४ ॥

मनभाई मीठी वाणी प्रिय सखी की सुनकर श्रीकिशोरीजी मन्द-मन्द हँसकर उठीं और दृढ आलिङ्गन देकर प्रेम से मिलीं । स्नेहाधिक्य के कारण प्रियतमजू से आपने कहा – "हे नाथ ! अब कभी ऐसा काम भूल कर भी न करना, जैसा कि आपने आज किया है, आप अपनी वंशी की ध्वनि से हम सब को जीतना चाहते हैं ? क्या वीणा की ध्वनि कभी सुनी नहीं थी, जो विजय करने चल पड़े थे ॥" १३३- १३४ ॥

इत्युक्त्वा तं तदा देवी सीता प्रोत्फुल्ललोचना । प्रियमालिङ्गय बाहुभ्यां चुचुम्बाधरमाधुरिम् ॥ १३५ ॥
हृदयं हृदयेन मुखेन मुखं करमञ्जकरेण सरोजनिभम् । उरसा प्रिय वक्षसि सङ्गमतो सुखमाप महोत्सवजन्यमहो ॥ १३६ ॥

ऐसा कहकर स्नेह सरस विकसित नयनादेवी श्रीकिशोरीजू अपने प्राणनाथ का दिव्य भुजवल्लियों से आलिङ्गन कर उनकी अधरमाधुरी का अमृतोपम रसास्वादन करने लगीं । हृदय से हृदय, मुख से मुख, करकमलों से करकमल तथा वक्षःस्थल से वक्षःस्थल मिलाकर महोत्सव जन्य परमानन्द का अनुभव करने लगीं, दिव्य सनातन दम्पत्ति महासुख सागर में मग्न हो गये ॥ १३५ - १३६ ॥

दम्पत्योः कौतुकं दृष्ट्वा सख्यस्तद्गतमानसाः । तदा जय जयेत्यूचुर्मुदिता सर्वतो दिशम् ॥ १३७ ॥
नाना पक्वान्न पत्राणि नाना स्वाद्य फलानि च । नाना पेयानि चोष्याणि नाना स्वादूनि यानि च ॥ १३८ ॥
संस्थाप्याग्रे तयोस्त्वेवं संभोज्य विधित्तथा । ताम्बूल दर्पणादीनि दर्शयित्वा प्रयत्नतः ॥ १३९ ॥
सख्यो नीराजनं चापि पुष्पाञ्जलिमथो स्तवम् । कृत्वा सम्यग्विधानेन प्रपश्यन्ति निरीक्षणम् ॥ १४० ॥

सनातन दिव्यदम्पत्ति साकेतविहारी - विहारिणीजू का सच्चिदानन्ददायक केलि कौतुक देखकर श्रीयुगल प्रभु के चरणों में आसक्त हृदया सखीगणों ने उस समय हर्षातिरेक में जय-जयकार किया, फूल बरसाये, दसों दिशाओं में वह आनन्द-

ध्वनि व्याप्त हो गई । नाना भाँति के पकवान, अनेकों प्रकार के स्वादिष्ट फल – मूल - कन्द, विविध प्रकार के पेय (पीने योग्य) चौष्यादि (चूसने योग्य) और जो - जो भाँति-भाँति के भोज्य पदार्थ हैं, प्रेमपूर्वक अर्पण किये, विधिवत् भोजन कराके सुगन्धित जल द्वारा आचमन कराया, तत्पश्चात् पान - सुपारी - इलायची आदि अर्पण कर दर्पण दिखाया तथा आरती उतारकर फूलों की वृष्टि की, पुनः प्रणाम-प्रार्थनादि करके गौरश्याम नयनाभिराम लोक ललाम नवलकिशोर-किशोरीजू के मुखकमल का दर्शन करने लगीं ॥ १३८-१३९-१४० ॥

तौ महा सुख सम्पनौ परस्पर रतिच्छया । शय्यायां कामकल्लोलं कर्तमुत्सुकमानसौ ॥ १४१ ॥
कामकेलिकलाभिज्ञौ रतिशास्त्रविशारदौ । चुम्बन स्पर्शनादीनि चक्राते रस विग्रहौ ॥ १४२ ॥

तत्पश्चात् महासुख सम्पन्न युगलप्रभु परस्पर रतिसुख की कामना से शयन कुञ्ज में पधारे । वहाँ दिव्य पर्य्यङ्क पर आसीन होकर काम कलोल जनित सुख प्राप्त करने को चित्त उत्कण्ठित हो गया । रतिशास्त्र विशारद् कामकेलि पारङ्गत दोनों दिव्य रस विग्रह स्वानन्द आत्मसुखानुभूति करने के लिये परस्पर आलिङ्गन चुम्बन - स्पर्शादि सरस सुखभोग में मग्न हो गये ॥ १४१-१४२ ॥

इत्थं चन्द्रकलायास्तु चरित्रं परमाद्भुतम् । मया ते कथितं देवि ! परमानन्दसागरम् ॥ १४३ ॥

भगवान् शंकर कहते हैं कि हे देवि पार्वती ! मैने यह सर्वेश्वरी श्रीचन्द्रकलाजू का परमानन्दसागर अद्भुत पवित्र चरित्र तुमको वर्णन कर सुनाया ॥ १४३ ॥

येऽतिरुक्षा महामूढा निन्दका रसवत्कथाम् । न श्रावयेदपुण्यांस्तान् रसिकानां च जीवनम् ॥ १४४ ॥
य इदं श्रृणुयाद्भक्या यः पठेस्थिरमानसः । स लभेच्छाश्वतं स्थानं दम्पत्योः केलिजं सुखम् ॥ १४५ ॥
इति श्रीमल्लोमश संहितायां द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥ २२ ॥

जो अत्यन्त रुक्षज्ञानी हैं, शुष्क हृदय हैं, महामूढ़तावश कुतर्क कर रसखण्डन करनेवाले हैं, निन्दक हैं, रसवाली - कथाओं में लौकिक विषय वासना की दुर्गन्ध लाने वाले है, उन पुण्यहीनों को यह चरित्र कभी नहीं सुनाना । यह तो रसिक सुजनों का ही जीवन धन है । जो दोष दुर्बुद्धि त्यागकर - रागद्वेष तर्कवाद रहित श्रद्धा सम्पन्न सज्जन इस चरित्र का श्रवण करेंगे अथवा चित्त जो स्थिर रखकर प्रेमपूर्वक पाठ करेंगे, उनको दिव्य धाम में सनातन दिव्य दम्पत्ति प्रभु श्रीसीतारामजी का सच्चिदानन्द रसघन केलिसुख के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होगा ॥ १४४ - १४५ ॥

जय-जय जनककुमारिका, जय-जय अवध किशोर । चन्द्रकला गुण आगरी, जय अलिगण शिरमोर ॥१॥
चारु चरित चितचोर यह, पढ़त सुनत जो कोय । युगल कृपामृत माधुरी, अधिकारी सो होय ॥२॥
जो जन रूखे रसिकजन, सङ्गति रहित अजान । ये कुतर्क करि हैं सदा, वशीभूत मद-मान ॥३॥
आज्ञा सन्तन की मिली, कियो चरित्र बखान । 'सन्त प्रिया' व्याख्या ललित, पढ़िये सन्त सुजान ॥४॥
ऋतु नभ गगन सुनेत्र शुचि, विक्रमाब्द सुखसार । रघुपति रथयात्रा रुचिर, मंगल मंगलवार ॥५॥
श्रीमल्लोमश संहिता, अष्टाध्याय अनूप । हिन्दी टीका युत लिखे, प्रेमनिधि रसकूप ॥६॥
गुणग्राही गुण ग्रहण करि, तजि मम दोष अपार । करि करुणा छमि सन्तजन, दें आशीष उदार ॥७॥

इति श्रीसीतारामीय श्रीमन्थुरादासजी चरणाश्रित अवधकिशोरदास श्रीवैष्णव 'प्रेमनिधि' प्रणीतायां सन्त प्रियाख्या व्याख्या समन्वितायां श्रीमल्लोमश संहितायां ललित मानलीला वर्णनोनाम द्वाविंशतितमोऽध्यायः ॥

जनकपुरधाम राममन्दिर की स्वयं भगवान रामजी द्वारा प्रतिष्ठापित "रामपञ्चायतन" त्रेतायुगीन मूर्ति – त्रेतायुगमें विवाह पश्चात श्रीजनक महाराजजी को सान्त्वना- विश्वास दिलाने नवविवाहित श्रीरामभद्रजू ने यह कहकर : **स भ्रातृकां ससीतां च स्वमूर्तिं स्थापयाम्यहम् । मण्डपे सर्व शोभाढ्ये ततो यास्येगृहं प्रति ॥** "भाइयों और सीताजी समेत मेरी मूर्ति स्थापन करके मैं घर जाऊँगा" - विश्वकर्माजी द्वारा निर्माण करवाकर स्वयं ही प्राण-प्रतिष्ठा की और कहा : **अनेनैव स्वरूपेण सदा स्थास्यामि ते गृहे । सुलभः सर्व लोकानां कल्याणै कविधित्सया ॥** "हे तात ! समस्त प्राणियों का कल्याण करने की मुख्य इच्छा से मैं इसी स्वरूप से (रामपञ्चायतन मूर्ति) सुलभ होकर जनकपुरधाम आपके भवन में निवास करूँगा ।"

श्रीगह्वरवन का स्वरूप-वर्णन

बाबाश्री के सत्संग 'श्रीराधासुधानिधि' (१६/१२/१९९९) से संकलित

राधारानी के विहार विपिन (श्रीगह्वरवन) में हमारा मन रमे । हे राधे ! आपके विहार विपिन में हमारा मन रमण करे, यह प्रार्थना है । 'राधा यशो मुखर मत्त खगावलीके' – जिस वन में पशु-पक्षी तक राधारानी का यश गाते हैं । इस संसार में हम लोगों को यह बात अनोखी लगती है किन्तु भगवद्धाम में जितनी भी वन की सम्पत्ति है, वन है, धाम है, वह चिन्मय है । यह संसार जड़ है । जड़ होने से जड़ में यह सब क्रिया नहीं होती है किन्तु वह धाम चिन्मय है, वहाँ ये सब क्रियायें होती हैं । लीलादृष्टि से लतायें बनी हैं, वृक्ष बने हैं किन्तु ये सब हैं चिन्मय । धाम में लता-वृक्ष आदि सभी श्रीजी की उपासना करते हैं । जैसे महारास के सम्बन्ध में भागवत में एक श्लोक है –

कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्म- वक्त्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।
गोप्यः समं भगवता ननृतुः स्वकेश- स्रस्तस्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥ (श्रीभागवतजी १०/३३/१६)

यह रास की एक छवि है और बड़ी सुन्दर छवि है । महारास में इतनी जोर से नृत्य हुआ कि नृत्य करते-करते गोपियों के कानों में नीलकमल के झुमके थे । वृन्दावन के दिव्य पुष्प हैं । पुष्पों के ही सब आभूषण बनाये जाते हैं । वहाँ की चिन्मय लतायें, चिन्मय वृक्ष हैं । वहाँ के नील कमल ऐसे हैं कि उनको कानों में पहन लो तो कुण्डल या झुमके की शोभा को बढ़ाते हैं । गोपियों के गालों पर उनके कानों के नीलकमल के कुण्डल झूम रहे थे । नृत्य करते समय उनके सुन्दर कपोलों पर उनकी घुँघराली अलकें भी झूम रही थीं । वेणी ढीली पड़ गयी थी । पत्रावली से चित्रित कपोलों पर घुँघराली लटें और उन लटों के साथ नीलकमल की शोभा इतनी सुन्दर लग रही थी जैसे किसी दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ रहा हो । परिश्रम के कारण मुख पर स्वेद की बूँदें हैं, इससे कपोलों की शोभा बढ़ गयी । जब गोपियाँ नृत्य कर रही थीं तो उस समय नृत्य के अनुसार तबला-ढोलक के ताल बजने चाहिए तो गोपियों के हाथों के कंकण और नूपुर इस तरह से बज रहे थे कि ठुमके के साथ वे ताल दे रहे थे । यह महारास की छटा है । ऐसी दशा में गोपियाँ नृत्य कर रही थीं । नृत्य करते-करते उनके जुड़े खुल गये और उनके खुलने से क्या हुआ ? गोपियों के केश पाश में जो बेला की मालायें बँधी थीं, वे मालायें जूड़े से टूटकर महारास की चिन्मय रास मण्डल की भूमि पर गिर पड़ीं । सारे रास मण्डल पर गोपियों के जूड़ों में बँधे बेला के फूलों की मालायें टूटकर गिरी पड़ी थीं । इस तरह सारा रासमण्डल फूलों से भरा हुआ था क्योंकि हर गोपी ने फूलों का श्रृंगार किया था । वृन्दावन के दिव्य फूलों के कुण्डल, फूलों के हार, फूल ही जुड़ों में बाँधे गये थे । फूलों की ही कौंधनी थी । जब फूलों की मालायें टूटकर रासमण्डल की भूमि पर गिरीं तो उन मालाओं पर भ्रमर बैठे हुए थे, वे भ्रमर ऐसे नहीं थे जैसे इस संसार के होते हैं, भन-भन करते हैं, जिनको देखकर भय लगता है कि कहीं काट न लें ।

'भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्' – वे भ्रमर रासगोष्ठी में गीत गा रहे थे । सभी भ्रमर मालाओं पर बैठे थे तो रास मण्डल में गवैयों की गोष्ठी बन गयी । भ्रमर तो गा रहे थे और गोपियों के कंकण और नूपुर ताल बजा रहे थे । इस तरह महारास में पूरा संगीत बन गया और गोपियाँ नृत्य कर रही थीं । संगीत में तीन चीजें होती हैं – 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते ।' गाना, बजाना और नृत्य करना – संगीत की यह त्रिवेणी है । केवल एक चीज संगीत नहीं बनाती है । केवल गान ही नहीं, कुछ बजाना भी चाहिए और इसके साथ ही नृत्य भी करना चाहिए, तब संगीत बनता है और उससे रस उत्पन्न होता है । महारास में गोपियाँ नृत्य कर रही थीं, उनके साथ श्रीकृष्ण भी नृत्य कर रहे थे । गोपियों के पाँवों के नूपुर, कमर की किंकिणी और हाथों की चूड़ियाँ ताल से बज रही थीं । वे वादक हैं । नृत्य करते-करते सब थक गये तो भँवरे गाने लगे । इस तरह भँवरों के गान के साथ, नूपुरों की ताल के साथ कोटि-कोटि गोपियाँ और उतने ही कृष्ण नृत्य कर रहे थे । यह महारास की एक छटा है । किसी समय गोपियाँ नहीं गा रही हैं, यह उस समय की बात है । केवल नृत्य हो रहा है । गोपियाँ तो गाती ही हैं जैसे रास के प्रारम्भ के समय –

उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः । कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥ (श्रीभागवतजी १०/३३/९)

रास के प्रारम्भ में गोपियों ने गीत गाया है । उस समय वे नृत्य भी करती थीं और गाती भी थीं । भँवरों ने तो तब गाया जब किसी समय नृत्य की विशेष अवस्था में बहुत तेज गति से नृत्य चल रहा था । उस समय गोपियों का तथा श्रीकृष्ण का गान रुक गया था । ये सब संगीत की अलग-अलग स्थितियाँ होती हैं जैसे कोई नृत्य करने वाला है तो गान कहाँ रुकेगा, कहाँ चलेगा, यह एक क्रमबद्ध रूप से होता है, ऐसा नहीं कि बराबर गान चलता ही रहेगा । जिस समय गान रुक गया, उस समय भँवरे गा रहे थे और नूपुरों से ताल लग रहा था । इस तरह से महारास की बड़ी अच्छी शोभा हुई, यह महारास का प्रमाण है कि वहाँ भँवरे तक गाते हैं । ऐसा इस भौतिक जगत में नहीं है क्योंकि यहाँ जड़ राज्य है, यहाँ पर ऐसा नहीं है ।

एक दूसरा उदाहरण है जैसे श्रीजी-ठाकुरजी दोनों युगल जोड़ी एकान्त में वृन्दावन में घूम रहे हैं, उस समय सखियाँ साथ में नहीं हैं । उस समय आम के वृक्ष के ऊपर कोयल बैठी थी । जब राधा-माधव आम के वृक्ष के नीचे पहुँचे तो ऊपर जो कोकिला बैठी थी, वह श्रीजी का नाम राधा-राधा गाने लगी । वह इतना मीठा गा रही थी कि श्यामसुन्दर वहाँ रुक गये । जब श्यामसुन्दर रुक गये तो राधारानी भी रुक गयीं क्योंकि दोनों गलबैयाँ दिए हुए थे । कोकिला द्वरा गाये गये राधा-राधा गान को सुनकर श्यामसुन्दर झूमने लगे, वे अपनी ग्रीवा को डुलाने लगे कि यह कोयल कितना मीठा गा रही है और दूसरी बात यह कि श्रीजी का नाम गा रही है । उस कोयल का गान सुनने के लिए दोनों राधा-माधव उस वृक्ष के नीचे बैठ गये । राधारानी तो चुप रहीं किन्तु श्यामसुन्दर उस कोयल के स्वर में वही स्वर मिलाकर स्वयं भी उसके साथ राधा-राधा गाने लगे । यह लीला है । **"अम्बु की डार पे कोयल बैठी, श्रीराधा-श्रीराधा गावै । प्रीतम रसिक देखि के पुनि पुनि, सुनि-सुनि ग्रीव डुलावै ॥"** श्यामसुन्दर झूमने लगे कि वृन्दावन का पक्षी गा रहा है, ऐसा यह धाम है । इसीलिए राधासुधानिधि के श्लोक -१३ में कहा गया है – राधा यशो मुखर मत्त खगावलीके । श्यामसुन्दर झूमने लगे तो राधारानी भी बैठ गयीं । उस आम के वृक्ष के नीचे दोनों बैठ गये और कोयल का गान सुनने लगे । "तरु की छाँह बिरम रहे दोऊ जन, खग गावत जस भावै ।" श्यामसुन्दर गाने लगे क्योंकि राधा नाम उनको बहुत प्यारा लगता है । यही प्रेम है । श्रीजी तो चुप रहीं क्योंकि अपने नाम को वे क्या गायेंगी । यदि कोयल कृष्ण नाम गाती तो राधारानी गातीं । "वृन्दावन हित रूप श्याम जू, ता स्वर स्वरहि मिलावै ॥" जैसे रास से प्रमाण दिया कि भँवरे गा रहे थे, ऐसा वर्णन कई जगह आता है कि वृन्दावन के दिव्य पक्षी राधा-माधव का यश गाते हैं । यह बात श्यामसुन्दर स्वयं कहते हैं, जब वे दाऊजी के साथ वृन्दावन में विचरण कर रहे हैं । श्रीकृष्ण दाऊजी से कहते हैं कि इस वृन्दावन की शोभा देखो । **"एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते ।"** हे दाऊ ! इस वृन्दावन के सभी भँवरे मेरा और तुम्हारा यश गा रहे हैं । ये भँवरे संसारी भँवरों की तरह भन-भन नहीं करते हैं ।

"प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥" (श्रीभागवतजी १०/१५/६)

श्यामसुन्दर बोले – दाऊ भइया ! ये तो तुम्हारे मुख्य भक्त मुनिगण हैं, जो भँवरे बनकर यहाँ तुम्हारा यश गा रहे हैं ।

यह उस वृन्दावन की बात है, जहाँ के पक्षी निरन्तर राधा-कृष्ण का यश गाते रहते हैं । इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है – राधा यशो मुखर मत्त खगावलीके – यह कोई कल्पना की बात नहीं है । इसी बात को भागवत के वेणु गीत में भी कहा गया है । गोपियाँ बैठी हुई हैं और देख रही हैं कि पक्षी राधा यश गा रहे हैं । बड़े ही सुन्दर स्वरों में गान चल रहा है, निरन्तर श्रीजी का नाम चल रहा है । हर वृक्ष पर भँवरे, तोते राधा-कृष्ण नाम का गान कर रहे हैं । सारा वन उन पक्षियों के गान से गूँज रहा है । ऐसा है वृन्दावन । उस गान को सुनकर गोपियाँ आपस में कहती हैं कि यह वृन्दावन कितना सुन्दर है । यहाँ के हर पुष्प पर भँवरे बैठकर 'राधा-राधा' गा रहे हैं, हर वृक्ष पर शुक और सारिका 'राधा-राधा' गा रहे हैं । ये जो गा रहे हैं, ये कौन हैं ? गोपियाँ उत्तर देती हैं – **"प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन्"** ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जैसे सनकादिक मुनि आदि यहाँ पक्षी के रूप में इस वन में श्रीराधा-कृष्ण के विहार का दर्शन करने के लिए

आये हैं । **"कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।"** ये यहाँ पर कन्हैया की तिरछी चितवन देखने के लिए आये हैं । इसीलिए तो कृष्ण को बाँके बिहारी कहा जाता है । उनका मुकुट टेढ़ा है, लकुट टेढ़ी है, नजर टेढ़ी है, उनकी चाल टेढ़ी है । त्रिभंग गति से (टेढ़े होकर) खड़े होते हैं । उनकी टेढ़ी चितवन (नजर) को देखने के लिए बड़े-बड़े मुनिजन वृन्दावन में पक्षी बनकर आये हैं । **"कन्हैया तुम्हें इक नजर देखना है । जिधर तुम छिपे हो उधर देखना है ॥"** वृन्दावन के पक्षी राधा-कृष्ण की दृष्टि देख रहे हैं । गोपियाँ कहती हैं कि ये पक्षी देखा करते हैं कि कृष्ण की दृष्टि कितनी सुन्दर है । ये वृन्दावन के वृक्षों के सुन्दर पत्तों वाली डालियों पर बैठ जाते हैं और अन्य बातों को सुनना छोड़कर कानों से श्रीकृष्ण की वंशी ध्वनि सुनते हैं । ये पक्षी जानते हैं कि जिस समय मुरलीधर की मुरली बजेगी और हम लोग श्रीजी का दर्शन करेंगे, उस समय हम लोगों को कुछ चेतना नहीं रहेगी । इसीलिए – **"आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्"** ये पक्षी उन शाखाओं पर बैठे हुए हैं, जहाँ अनेक नये-नये पल्लवों के गद्दे बने हुए हैं, जिससे वंशी सुनते समय यदि मूर्च्छा भी आ जाएगी तो पल्लवों पर लुढक जायेंगे । जैसे कोई आदमी बैठता है तो पहले से अपना आसन जमाकर बैठता है कि कहीं इधर-उधर न गिर पड़ें ।

"श्रृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥" गोपियाँ कहती हैं कि ये पक्षी ऐसे नहीं बैठे हैं कि समाधि लगा ली हो या ध्यान कर रहे हैं, अमीलितदृशो - इन्होंने अपनी आँखों को खोल रखा है, जिससे कि कृष्ण की पूरी छवि का दर्शन हो जाए । इनकी आँखें खुली हैं किन्तु वाणी बन्द है । 'विगतान्यवाचः' – ये कहते हैं कि यदि हम बोलेंगे तो कन्हैया की वंशी में विघ्न होगा । यह अपराध है । जैसे कोई संगीत सभा हो रही हो या भगवत्कथा हो रही हो तो वहाँ बातचीत करना अथवा हल्ला करना अपराध माना जाता है, उसी तरह ये वृन्दावन के मुनिस्वरूप जो पक्षी हैं, इनकी वाणी बन्द है । ये आपस में संकेत करते हैं कि बोलना नहीं, इस समय कन्हैया की वंशी बज रही है । केवल उनके नेत्र खुले हैं । **"जरा देखो सुन लो कन्हैया की मुरली, जमुना किनारे बजी जा रही है ।"** जब वंशी रुक जाती है तब ये पक्षी श्रीजी का नाम गाते हैं । इस तरह सारा वन भँवरों से, वहाँ के चिन्मय पक्षियों की गुंजार से, उनके द्वारा गाये राधा नाम से गूँजता रहता है । वहाँ दिव्य संगीत होता रहता है । बरसाने के परम रसिक सन्त श्रीवंशीअलीजी द्वारा रचित ग्रन्थ वृषभानुपुर शतक में गह्वर वन के स्वरूप का वर्णन किया गया है । गह्वर वन का वास्तिक स्वरूप हम लोगों को दिखाई नहीं पड़ता है । राधारानी की जब कृपा होती है, तब वह स्वरूप दिखता है । वृषभानुपुर शतक के श्लोक – ९ में लिखा है –

गुंजद्भृंग कुलाम्बुजातमुकुलं गायत्सुपुंस्कोकिलं नृत्यत्केकिकलं समीरविचलत् पत्र प्रभाभासितम् ।

गह्वरवन में नित्य संगीत चलता रहता है । यह साधारण वन नहीं है । इसे श्रीजी ने बनाया है । यहाँ संगीत कैसे चलता है ? संगीत में पहले तानपुरा बजता है, उस पर खरज यानी 'स' स्थापित किया जाता है । तानपुरा क्या है ? इसका आशय है कि खरज स्थापित हो गया । जैसे मकान बनाया जाता है तो उसके पहले नीव बनती है । नीव पर मकान खड़ा होता है । तानपुरा माने खरज स्थापित हो गया, अब इस खरज पर राग का विस्तार हो जाएगा । गुंजद्भृंग कुलाम्बुजातमुकुलं – इस गह्वर वन में राधा सरोवर है, जिसको ब्रजवासी गह्वर कुण्ड कहते हैं । इसका एक दिव्य स्वरूप है । इसमें अनेक कमल खिले रहते हैं । उन कमलों पर भँवरों ने जो गुंजार किया, अपना संगीत शुरू किया, वही खरज (तानपुरा) था । जब भँवरों ने अपने स्वर में खरज को स्थापित किया तो – गायत्सुपुंस्कोकिलं - उसी समय नर कोकिल आ गये और उन नर कोयलों ने मिलकर गान आरम्भ किया – राधा राधा राधा – इस वन के जितने भी नर कोकिल थे, वे सब राधा-राधा गाने लगे । इस तरह गह्वर वन में भँवरों के द्वारा खरज छेड़ने के बाद कोयलों द्वारा गान आरम्भ हुआ । संगीत में तीन चीजें होती हैं – गाना, बजाना और नाचना । एक अंग भी कम रह जायेगा तो संगीत पूर्ण नहीं बनेगा । जब गान शुरू हुआ तो नृत्यत्केकिकलं – गह्वरवन के दिव्य मयूर आ गये । इन मयूरों ने नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया ।

जब किसी संगीत के कार्यक्रम में नृत्यकार मंच पर नृत्य करता है चाहे वह स्त्री है अथवा पुरुष है, कोई अच्छी नायिका जब नृत्य करती है तो उस नृत्य के प्रदर्शन के लिए अलग से फ़ोकसिंग की व्यवस्था की जाती है । अनेक रंग की लाइट छोड़ी जाती है, उसे फ़ोकसिंग कहते हैं । जैसे शिव ताण्डव नृत्य होता है तो त्रिशूल उठाकर आँखें लाल करके

शिवजी देखते हैं, उससे अग्नि प्रकट होती है, लाल रंग की लाइट से चारों ओर प्रकाश किया जाता है, जिससे आभास होता है कि अग्नि जल रही है अथवा चन्द्रमा का वर्णन होता है तो श्वेत रंग की लाइट चाँदनी का दृश्य उपस्थित करती है । इसको फ़ोकसिंग कहते हैं और यह नृत्य में आवश्यक है । इसी प्रकार जब गह्वर वन में मयूर नृत्य करते हैं तो यहाँ भी फ़ोकसिंग होती है । **"नृत्यत्केकिकलं समीरविचलत् पत्र प्रभाभासितम्"** गह्वरवन में जो दिव्य लतायें हैं, उनके अनेक दिव्य मणियों के कोमल पत्ते हैं – विद्रुम मणि, हीरक मणि, नीलमणि – यों समझ लो कि नीले पत्ते, पीले पत्ते । मयूरों के द्वारा नृत्य करते समय हवा चलती है तो उन पत्तों से जो किरणें निकलती हैं, वे अलग-अलग रंग की किरणें मोरों के ऊपर पड़ती हैं – कभी लाल, कभी पीली और कभी श्वेत रंग की किरण । नृत्य करते हुए मयूरों के ऊपर अनेक रंगों की किरणों की फ़ोकसिंग होती है, विकिरण होता है और रश्मियों का प्रवाह बहता है । यह तो ऊपर की फ़ोकसिंग थी । मंच के दो भाग होते हैं । एक ऊपर का हिस्सा और एक नीचे का हिस्सा । नीचे का हिस्सा कैसा है ? इसको ऐसे समझिये कि जैसे मंच पर एक लाइट तो ऊपर से आती है, एक मंच के आगे लगी होती है । **"नानाचंद्रविनिंदिदीप्तिमदलं राजन्मणींद्रस्थलम्"** आकाश में तो केवल एक ही चन्द्रमा होता है किन्तु गह्वर वन के कुञ्ज भवन में जो मणीन्द्र स्थल है, अनेक प्रकार की मणियों से बना हुआ रासमण्डल है, वहाँ कंचन मण्डल बना हुआ है ।**"हे हरि रास रच्यो वन माँही ।"**

कंचन मण्डल यानी रत्नों से खचित, एक-एक रत्न अनेक चन्द्रमाओं को तिरस्कृत करने वाले हैं । जैसे लाल मणि लाल चन्द्रमा, पीत मणि पीत चन्द्रमा, नील मणि नील चन्द्रमा । ऐसा लगता है कि गह्वर वन की भूमि अनेक चन्द्रमाओं के द्वारा बनी हुई है, जहाँ राधारानी और श्रीकृष्ण नृत्य करते हैं । अनेकानेक चन्द्रमा - लाल चन्द्रमा, पीला चन्द्रमा, नीला चन्द्रमा, नारंगी रंग का चन्द्रमा, बैगनी रंग का चन्द्रमा – उनको भी तिरस्कृत करने वाली निर्मल मणियों की बनी हुई भूमि है, वह नीचे से फ़ोकस करती है और ऊपर से लताओं के पत्ते अलग से ज्योति विकिरण करते हैं ।

अब वहाँ वाद्य क्या बजता है ? भँवरों ने खरज स्थापित किया, नर कोकिल गाने लगे, मयूर नृत्य करने लगे किन्तु ताल का कार्य कौन कर रहा है ? **"वाद्यं निर्झरभेरिका कलकलं ध्यायामिकुंजोत्तमम् ॥"** गह्वरवन में एक दिव्य झरना इस प्रकार से बहता है कि उसकी मनोरम ध्वनि मृदंग का कार्य करती है । उसकी ताल पर मयूर नृत्य करते हैं, कोकिल गाते हैं, भँवरे खरज स्थापित करते हैं । ऐसी दिव्यातिदिव्य शोभा से सम्पन्न गह्वर वन की भूमि पर जब युगल सरकार श्यामा-श्याम विराजते हैं तो चौबीसों घंटे यहाँ संगीत चलता रहता है । ऐसे कुंजों वाले इस उत्तम वन का मैं ध्यान करता हूँ । इसीलिए सुधानिधि के इस श्लोक में कहा गया – **"राधा करावचित पल्लव वल्लरीके, राधा यशो मुखर मत्त खगावलीके ।"** यह केवल एक कल्पना नहीं है । यह इस वन का वास्तविक स्वरूप है । हमारी आस्था ऐसी नहीं है क्योंकि हम ऐसा आँखों से नहीं देखते कि कोई चिड़िया राधा-राधा गा रही हो किन्तु ऐसी आस्था को बनाने के लिए ही यह सब वर्णन किया गया है क्योंकि ऐसा वहाँ होता है ।

हर चीज का अनुभव आस्था (विश्वास) से होता है । बिना विश्वास के तो इस दुनिया में भी कुछ नहीं मिलता है । जैसे सभी ने भूगोल का अध्ययन किया होगा । भूगोल में पढ़ाया जाता है कि ये एशिया है, यह यूरोप है, यह अमेरिका है, यह रूस है । दुनिया भर का नक्शा भूगोल की पुस्तक में पढ़ा दिया जाता है लेकिन क्या कोई इन महाद्वीपों और देशों को देखने गया है ? क्या हम लोग सारी दुनिया को देखने गये हैं ? कोई नहीं गया है । केवल पुस्तक में पढ़कर इन पर विश्वास कर लेते हैं कि भारत से इतनी दूरी पर अमेरिका है, इतनी दूर रूस है । इस तरह बिना आस्था या विश्वास के तो संसार का भी ज्ञान नहीं होता है । किसी ने पूछा कि श्रीजी का मन्दिर कहाँ है तो बताया कि इस तरह उत्तर की ओर चले जाओ । अब यदि कोई विश्वास ही नहीं करेगा तो कैसे श्रीजी मन्दिर पहुँच पायेगा ? इस तरह आस्था रखकर चलने से ही कोई चीज मिलती है । आस्था को ज़माने के लिए ही कथा सुनी जाती है, बार-बार सुनी जाती है, हजार बार, लाखों बार सुनी जाती है । वह आस्था जब जमते-जमते परिपक्व होती है तब उस चीज का अनुभव होता है ।

श्रीभावभक्ति की कथा

बाबाश्री के सत्संग (१३/१२/२००९) से संकलित

भक्तमाल में कथा आती है कि एक भक्त थे कुलशेखरजी । वे बड़े ही अच्छे भक्त थे । वे सीता राम युगल के उपासक थे । उनका हृदय इतना कोमल था कि वे कभी भी सीतारामजी की जोड़ी को अलग नहीं देखना चाहते थे । उनको जो पण्डितजी कथा सुनाते थे, वे केवल इतना ही सुनाते थे कि रामजी का जानकीजी के साथ विवाह हुआ, विवाह के बाद वे मिथिला गये । ससुराल में उनको गाली मिली, बड़ा आनन्द आया । उन्होंने कभी सीता हरण की कथा नहीं सुनायी थी । एक बार वे पण्डितजी बीमार पड़ गये तो उन्होंने अपने पुत्र से कहा कि तू जाकर राजा साहब को कथा सुना आ । वह लड़का था तो विद्वान् किन्तु केवल विद्वान् होने से ही काम नहीं बनता है । भावुकता एक अलग चीज है । उसने सोचा कि मैं ऐसी कथा आज सुनाऊँगा कि उसे सुनकर राजा साहब रोने लग जायेंगे । उसने सोचा कि सीता राम जी का विलाप सुनाऊँगा तो राजा साहब खूब रोयेंगे । उसने सीता हरण की कथा सुना दी कि रावण सीताजी का हरण करके ले गया और प्रभु वन-वन में सीताजी की खोज करते हुए विलाप कर रहे हैं – हा सीते ! हा सीते ! । कुलशेखर जी ने यह कथा कभी सुनी ही नहीं थी । जब उन्होंने सुना कि लंका का राजा रावण सीताजी का हरण करके ले गया तो वे बड़े ही क्रोधित हुए और चिल्लाये – 'कौन दुष्ट है, जो माता का हरण करके ले गया ?' उनका रुद्र रूप देखकर पण्डितजी के पुत्र की कथा बन्द हो गयी । उन्होंने अपने सेवकों से चिल्लाकर कहा – 'लाओ मेरी तलवार ।' सेवकों ने तलवार दे दी । इसके बाद उन्होंने कहा – 'मेरे घोड़े को लाओ।' सेवक लोग घोड़ा ले आये । अपने हाथ में तलवार लेकर कुलशेखरजी घोड़े पर चढ़े, उन्होंने पूछा कि रावण माता को कहाँ ले गया ? पण्डितजी के पुत्र ने कहा – 'समुद्र के उस पार लंका में ।' पण्डितजी का पुत्र डर गया कि कहीं क्रोध में ये मुझे ही न दण्ड देने लग जाएँ । उसने राजा साहब का ऐसा रूप कभी नहीं देखा था । कुलशेखर जी घोड़े पर चढ़कर चले और अपने घोड़े को समुद्र में कुदा दिया और बोले कि समुद्र के पार लंका में जाकर रावण को मारकर मैं अभी जनकनन्दिनी को लाता हूँ। उस दुष्ट ने महारानी को ऐसा कष्ट दिया । कौन दुष्ट है यह ? अब यह आस्था की बात है । इसे हम लोग नहीं समझ सकते क्योंकि हमारे अन्दर ऐसी आस्था नहीं है । जब घोड़े को कुलशेखर जी ने समुद्र में कुदा दिया तो समुद्र तो समुद्र है किन्तु भगवान् की इच्छा, वह घोड़ा भी समुद्र में तैरने लगा । थोड़ी दूर जाने के बाद समुद्र के भीतर से सीता रामजी की जोड़ी प्रकट हुई । सीताजी ने कहा – 'राजन् ! मेरा हरण नहीं हुआ है । देखो, राघवेन्द्र सरकार तो मेरे साथ हैं ।' कुलशेखरजी को सीतारामजी के दर्शन हो गये । यह आस्था की बात है । इसलिए हम जो बता रहे हैं कि वृन्दावन में ऐसे पक्षी हैं, जो निरन्तर राधारानी के यश का गान करते रहते हैं । यह इसलिए कह रहे हैं कि ऐसी आस्था जम जाए । इसे सौ बार सुनो, हजार बार सुनो, लाख बार सुनो तो सुनते-सुनते आस्था जब जम जाती है तब अनुभव होता है । जिसके भीतर प्रेम यानी भाव की दृष्टि होती है, वह जिन आँखों से भगवान् को देखता है और जिस रूप को देखता है, वह अलग है । कृष्ण के जिस रूप को गोपियों ने देखा था, उसे सब नहीं देख सकते हैं । जाकी रही भावना जैसी । प्रभु मूरति देखि तिन तैसी ।। अस्तु, श्रुतियों ने जो तपस्या की तो भगवान् ने उन्हें दर्शन दिया और पूछा कि तुम क्या चाहती हो ? श्रुतियों ने भगवान् से कहा कि हम आपके उस रूप को देखना चाहती हैं, जिस रूप को गोपियों ने देखा । ऐसा श्रुतियों ने भगवान् से वरदान माँगा । इससे पता पड़ता है कि उस रस में श्रुतियों का भी अधिकार नहीं है । भगवान् ने श्रुतियों से कहा कि मैं तुमको वही रूप दिखाऊँगा क्योंकि तुमने तपस्या करके मुझे प्रसन्न किया है । पहले भगवान् ने श्रुतियों को अपना धाम दिखाया । श्रुतियों ने कहा कि अनादि काल से हम जिस भगवान् का यश गा रही हैं और तपस्या करके बड़ी कठिनाई से आज उसका दर्शन हुआ, उस भगवान् को ये गोपियाँ खिलौना बनाकर नचा रही हैं । वह भगवान् गोपियों का दास बन गया है । भगवान् ने आदि पुराण में अर्जुन से कहा है – निजाङ्गं अपि या गोप्यो ममेति समुपासते । गोपियाँ अपने शरीर को इसलिए नहीं सजाती थीं, जैसे हम लोग सजाते हैं । वे आभूषण, लहँगा-फरिया आदि सब पहनती थीं, काजल, बिंदी आदि लगाती थीं किन्तु उनके भीतर यह भाव रहता था कि यह शरीर

कृष्ण का है । ऐसा भाव होना बहुत कठिन है । अपने भीतर से अहंता बिलकुल जड़ से चली जाए और जड़ से सोच लिया जाए कि यह प्रभु की वस्तु है तो यह बहुत कठिन है । ब्रजगोपियों की ऐसी ही स्थिति थी । श्रीकृष्ण कहते हैं कि गोपियाँ अपने शरीर को मेरा शरीर समझकर स्नान कराती थीं, खिलाती-पिलाती थीं । हम लोग तो अपने शरीर के सुख के लिए खाते हैं, इन्द्रियों के सुख के लिए हर कार्य करते हैं । यह शरीर तो प्रभु का है, ऐसा भाव केवल गोपियों का ही था और किसी का नहीं था । वैसे तो हम सभी लोग कह देते हैं कि सब कुछ प्रभु का है, सब प्रभु को समर्पित है किन्तु एक तादात्म्य बुद्धि से समझना कि जैसे हम समझते हैं कि यह हमारा शरीर है, उसकी जगह यह समझें कि यह कृष्ण का शरीर है । ऐसा भाव गोपियों में आ गया था । एक अन्य उदाहरण है कि जिस समय हनुमानजी और रावण का बड़े जोर से युद्ध चल रहा था तो रावण को बड़ा ही अहंकार था । उसने हनुमानजी से कहा – 'बन्दर ! चलो, हम लोग कोई शर्त बाँधकर लड़ें ।' हनुमानजी ने कहा - 'ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा ।' रावण ने कहा – 'एक घूँसा मैं तुझ पर मारूँगा और एक घूँसा तू मुझ पर मार ।' रावण ने सोचा कि मैंने तो अपने हाथों से कैलाश पर्वत उठा लिया था । मेरी भुजाओं में तो बहुत ताकत है । एक ही घूँसा मारकर मैं इस बन्दर को समाप्त कर दूँगा । यह बन्दर ही आफत की जड़ है । इसके बिना तो राम-लक्ष्मण भी कुछ नहीं हैं । हनुमानजी ने रावण से कहा – 'ठीक है, तुम जैसे चाहो, मुझसे लड़ लो ।' रावण बोला कि पहले मैं तुझको मारूँ कि तू मुझे मारेगा । हनुमानजी ने कहा – 'जैसी तुम्हारी इच्छा ।' रावण बोला कि पहले मैं मारूँगा । उसने सोचा कि मैं पहले ही इसे ख़त्म कर दूँगा, जब यह जीवित ही नहीं रहेगा तो दुबारा मुझे कैसे मारेगा ? रावण ने कहा – 'सावधान हो जाओ ।' हनुमानजी ने कहा – 'आ जा ।' हनुमानजी अविचल भाव से खड़े हो गये । रावण ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से हनुमानजी के ऊपर घूँसे से प्रहार किया । हनुमानजी घुटने के बल पर बैठ गये । रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ और सोचने लगा कि धिक्कार है मुझे, यह बन्दर तो मरा ही नहीं । अब रावण को हनुमानजी से कहना पड़ा कि तू भी मुझे मार । हनुमानजी बोले – 'सावधान ।' रावण बोला – 'ठीक है ।' हनुमानजी ने रावण को एक घूँसा मारा । रावण गिर पड़ा और उसके दसों मुखों से खून निकलने लगा । जब उसे बहुत देर बाद होश आया और हनुमानजी के पास वह आया तो देखा कि हनुमानजी रो रहे थे । रावण को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यह बन्दर रो क्यों रहा है ? उसने पूछा – 'बन्दर ! तू रोता क्यों है ?' हनुमानजी बोले कि मैं इसलिए रो रहा हूँ क्योंकि मेरे शरीर का एक बाल टूट गया है । रावण ने कहा – 'अरे बन्दर ! तू तो बन्दर ही रहा । मेरे तो दसों मुखों से खून का झरना निकल गया और फिर भी मैं नहीं रोया किन्तु तू एक बाल के टूटने से रो रहा है । तू बलवान तो बहुत है परन्तु पूरा मूर्ख है । बन्दर के तो लाखों बाल होते हैं, एक बाल झड़ गया तो क्या नुक्सान हुआ ?' हनुमानजी ने कहा कि मैं बाल के लिए नहीं रो रहा हूँ । वह बाल मेरा नहीं था । यह शरीर तो मेरे स्वामी का है । मेरे पास तो यह धरोहर के रूप में रखा है । स्वामी का दिया हुआ शरीर, उसको मैं सम्भाल नहीं सका । उसका एक बाल टूट गया, इसलिए मैं रो रहा हूँ । अब रावण की समझ में आया कि राम के ऐसे स्वामिभक्त सेवक हैं, जो अपने शरीर को अपना न मानकर स्वामी का मानते हैं । वास्तव में इस भाव को ही शरणागति कहते हैं । यदि ऐसा भाव उत्पन्न हो जाए तो सारे विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि समाप्त हो जायेंगे । मनुष्य भोग क्यों भोगता है ? वह शरीर को अपना समझता है । जब शरीर अपना समझता है तो सोचता है कि इस शरीर को सब तरह से सुख दिया जाये । यदि मनुष्य अपने शरीर को भगवान् का शरीर समझ ले तो सब विकार समाप्त हो जायेंगे ।.....

श्रीभगवान् के अवतरित धाम 'श्रीब्रजभूमि' में ऐसी स्थलियाँ हैं कि उनकी लीला को समझना ही कठिन है, फिर लीला का अनुभव होना तो बहुत आगे की बात है क्योंकि पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म की रसमयी लीला देवताओं को भी दुर्लभ है और यहाँ तक कि श्रुतियों को भी दुर्लभ है । गर्गसंहिता इत्यादि ग्रन्थों में उल्लेख है कि एक बार वेद की ऋचाओं ने, श्रुतियों ने बहुत तप-आराधन किया । जिन वेद की ऋचाओं, श्रुतियों से सारे संसार को ज्ञान मिला और अज्ञान का अन्धकार दूर हुआ, उन श्रुतियों ने बड़ा तप किया । तप क्यों किया ? भगवान् के साक्षात् दर्शन, सर्वेश्वर प्रभु के पास पहुँचकर उनसे बातचीत करने के लिए ।

प्यारी जु आगे चल आगे चल, गहवर वन भीतर।

श्री राधामानबिहारीलाल के
प्राकट्योत्सव की बधाई
(प्राकट्य दिवस- मार्गशीर्ष मास शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी)
(३ दिसम्बर २०२५)

RNI REFERENCE NO. 1313397- REGISTRATION NO. UP BIL-2017/72945-TITLE CODE UP BIL-04953 POSTAL REGD.NO. 093/2024-2026 श्री मान मन्दिर सेवा संस्थान के लिए प्रकाशक/मुद्रक एवं संपादक राधाकांत शास्त्री द्वारा 'गुप्ता प्रिन्टिंग प्रेस, खरौट गेट, कोसीकलाँ, मथुरा, उत्तरप्रदेश' से मुद्रित एवं मान मन्दिर सेवा संस्थान, गह्वरवन, बरसाना, मथुरा (उ.प्र.) से प्रकाशित,AGRA/WPP-12/2024-2026 AT 31.12.26